# कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न

[ पंचास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसारका विषय परिचय ]

लेखक
गोपालदास जीवाभाई पटेल

अनुवादक
शोभाचन्द्र भारिल्ल

*
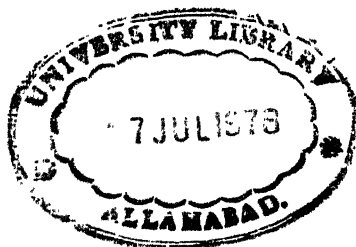
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला : हिन्दी ग्रन्थांक-४

ग्रन्थमाला सम्पादक :

डॉ० आ० ने० उपाध्ये, डॉ० हीरालाल जैन, लक्ष्मीचन्द्र जैन

Murtidevi Series : Title No. 4

KUNDAKUNDĀCHĀRYA KE

TĪNA RATNA

GOPALDAS JIVABHAI PATEL

*Bharatiya Jnanpith*
*Publication*

First Edition 1948
Second Edition 1967

Price Rs. 2.00



*भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन*

प्रधान कार्यालय

९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७

प्रकाशन कार्यालय

दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५

विक्रय-केन्द्र

३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

प्रथम संस्करण १९४८

द्वितीय संस्करण १९६७

मूल्य २.००

सन्मति मुद्रणालय,
वाराणसी-५

## वक्तव्य

[ प्रथम संस्करण ]

जब कोई पूछता है कि, "जैन धर्म किस ग्रन्थको मानता है ?" तो हमारे पास कोई प्रस्तुत उत्तर नहीं होता, जैन धर्मकी प्रधान विशेषता यह है कि यह धर्म अत्यन्त प्राचीन होनेपर भी वेद, बाइबिल या कुरान-जैसी किसी पुस्तक-विशेषको अपनी उत्पत्ति या समग्रताका आधार नहीं मानता, सांसारिक और आध्यात्मिक जीवनके अनुभवसे विकसित होनेवाला जैन-धर्म तर्कको झेलता है और उसका समाधान करता है, अनेक आचार्यों-द्वारा लिखित अनेक ग्रन्थोंमें हमें जीवनके गोचर और अगोचर तत्त्वोंको समझाने और प्रतिपादन करनेकी सतत चेष्टा दिखाई पड़ती है, इस प्रकार-के तमाम ग्रन्थ अपना-अपना अलग महत्त्व रखते हैं। हम विषयकी दृष्टिसे, शैलीकी दृष्टिसे और ग्रन्थके निर्माता आचार्यके जीवनकाल या परम्पराकी दृष्टिसे ग्रन्थोंका मूल्यांकन करते हैं।

आचार्योंकी परम्परामें, ग्रन्थोंके निर्माणमें, विषयोंके प्रतिपादनमें और जैनदर्शनके मौलिक सिद्धान्तोंको कालान्तरमें प्रामाणिकता प्रदान करनेमें आचार्य कुन्दकुन्दको कितना महान् श्रेय प्राप्त है इसका अनुमान प्रस्तुत ग्रन्थका 'उपोद्घात' पढ़नेसे हो जायेगा।

कुन्दकुन्दाचार्यके प्रमुख तीन ग्रन्थों – पंचास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसारका अध्ययन करके श्री गोपालदास जीवाभाई पटेलने गुजराती-में यह मूल पुस्तक लिखी थी, पुस्तकके लिखनेमें श्री पटेलका दृष्टिकोण यह रहा है कि जैन दर्शन और आचारके सम्बन्धमें आचार्य कुन्दकुन्दने उपर्युक्त तीन ग्रन्थोंमें जो मूल बातें कही हैं उन्हें छाँटकर अलग-अलग विषयोंके अन्तर्गत इस तरह इकट्ठा कर दिया जाये कि प्रत्येक विषयका सिलसिलेवार परिचय मिल जाये, इसके लिए लेखकको गम्भीर अध्ययन और परिश्रम करना पड़ा है। बड़ी खूबीकी बात यह है कि लेखकने प्रत्येक विषयको इतनी अच्छी तरह समझा है कि उसे पाठकोंके लिए

संक्षेपमें नपे-तुले शब्दोंमें समझा सकना सहज हो गया है।

इस पुस्तकको समझनेके लिए जैन तत्त्वज्ञानके पारिभाषिक शब्दोंका पहलेसे ही साधारण परिचय होना आवश्यक है, जैन आचार्योंने भारतीय दर्शनको जो देन दी है, उसमें पारिभाषिक शब्दोंके निर्माणका महत्त्वपूर्ण स्थान है, इसकी ओर विद्वानोंका ध्यान अभी पूरी तरह नहीं गया है। हमारे आचार्योंने चेतन और अचेतन मनकी क्रियाओं, मनोविज्ञानके तत्त्वों, अध्यात्म और दर्शनशास्त्रके विवेचनके लिए अनेक नये शब्दोंको गढ़ा है। आजके अनेक रूढ़ शब्दोंको अपने मौलिक रूपमें जानने और समझनेके लिए जैन दर्शनका अध्ययन नितान्त आवश्यक है, 'ईहा', 'अवाय', 'नय', 'विज्ञान', 'पुद्गल', 'समय', 'धर्म', 'अधर्म' आदि शब्द उदाहरणके रूपमें रखे जा सकते हैं। लेखकने प्रत्येक कठिन पारिभाषिक शब्दोंको थोड़े शब्दोंमें समझाने या संक्षिप्त पादटिप्पणियों-द्वारा स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है और पाठकके ज्ञानको अनावश्यक विस्तारमें भटकनेसे बचा लिया है, उदाहरणार्थ, 'गुणस्थान' शब्दको ७६ पृष्ठके पाद टिप्पणमें इस तरह समझाया गया है।

"'गुण' अर्थात् आत्माकी स्वाभाविक शक्तियाँ, और 'स्थान' अर्थात् उन शक्तियोंकी तर-तमतावाली अवस्थाएँ, आत्माके सहज गुणोंपर चढ़े हुए आवरण ज्यों-ज्यों कम होते जाते हैं, त्यों-त्यों गुण अपने शुद्ध स्वरूपमें प्रकट होते जाते हैं, शुद्ध स्वरूपकी प्रकटताकी न्यूनाधिकता ही 'गुणस्थान' कहलाती है, गुणस्थान चौदह हैं।"

एक तरहसे, यह ग्रन्थ जैन धर्म और जैन तत्त्व ज्ञानका सारसंचय है, इसे समझनेके लिए केवल पढ़ लेना ही पर्याप्त नहीं है, यह अध्ययन और मननकी चीज है। दूसरी बात यह भी है कि इस पुस्तकको पढ़कर यदि पाठकने जैनधर्मकी मौलिक देन – 'निश्चय' और 'व्यवहार' ज्ञान या 'पारमार्थिक' और 'व्यावहारिक दृष्टिबिन्दु – को न समझा और वैयक्तिक आचरणमें यदि उसे स्थान न दिया तो पुस्तकसे प्राप्त अन्य पाण्डित्य व्यर्थ

होगा, शास्त्रज्ञानका सार क्या है ? इस पुस्तकके पृष्ठ ६५ पर पंचास्तिकायकी गाथा १५५-७३ के आधारपर इस प्रश्नका समाधान इस रूपमें मिलता है ।

"अर्हत्, सिद्ध, चैत्य, शास्त्र, साधुसमूह और ज्ञान, इन सबकी भक्तिसे पुरुष पुण्य कर्मका बन्ध करता है, कर्मक्षय नहीं करता.... । आत्मध्यानके बिना, चित्तके भ्रमणका अवरोध होना सम्भव नहीं है, और जिसके चित्त भ्रमणका अन्त नहीं हुआ, उसे शुभ अशुभ कर्मका क्षय रुक नहीं सकता, अतएव निवृत्ति ( मोक्ष ) के अभिलाषीको "निःसंग और निर्मल होकर सिद्ध स्वरूप आत्माका ध्यान करना चाहिए, तभी उसे निर्वाणकी प्राप्ति होगी, बाकी जैन सिद्धान्त या तीर्थंकरमें श्रद्धावाले, श्रुतपर रुचि रखनेवाले तथा संयमतपसे युक्त मनुष्यके लिए भी निर्वाण दूर ही है, मोक्षकी कामना करनेवाला कहीं भी किंचित् मात्र भी राग न करे, ऐसा करनेवाला भव्य भवसागर तर जाता है ।"

गीताके निःसंग कर्मके सिद्धान्तका विकास इसी विचारधारा-द्वारा उद्भूत हुआ है ।

यह भी मानना पड़ेगा कि इस तरहकी निःसंग बुद्धि जीवनके प्रौढ़ विकाससे प्राप्त होती है, जबतक मनकी वह प्रौढ़ अवस्था प्राप्त नहीं होती तब तक गृहस्थके दैनिक कर्त्तव्य, पूजा, पाठ, गुरुभक्ति, जप, तप, दान, संयम सब आवश्यक हैं, अन्यथा, व्यवहारदृष्टिका अर्थ क्या होगा ?

भारतीय ज्ञानपीठके विद्वानोंको ज्ञानपीठके संस्थापक व्यक्तिगत रूपसे इस बातकी प्रेरणा करते रहते हैं कि प्रधान-प्रधान आचार्योंकी मूल बातोंको सरल और सुबोध बनाकर जनताके सामने रखना चाहिए जिससे प्राचीन ज्ञानकी अखण्ड ज्योति प्रत्येक सन्ततिके वातावरणको तदनुकूल रूपसे प्रकाशित करती रहे ।

ज्ञानपीठ इस दिशामें प्रयत्नशील रहेगा ।

—लक्ष्मीचन्द्र जैन

## मूल लेखककी सूचना

इस पुस्तकके तैयार करनेमें परमश्रुत-प्रभावकमण्डल बम्बईसे प्रकाशित समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकायके संस्करणोंका उपयोग किया गया है। अनुवादमें पैराग्राफके अन्तमें दिये गये अंक भी इन्हीं संस्करणोंके हैं।

इस पुस्तकके उपोद्घात तथा पादटिप्पण लिखनेमें डॉ० आ० ने० उपाध्याय लिखित प्रवचनसारकी प्रस्तावनाका और पण्डित सुखलालजी कृत तत्त्वार्थाधिगम सूत्रके अनुवादका मुख्यरूपसे उपयोग किया है। अतः इनमें चर्चित विषयोंकी जानकारीके लिए पाठकको उक्त ग्रन्थ देखना चाहिए।

जैसा कि मैंने उपोद्घातमें लिखा है कि श्रीकुन्दकुन्दाचार्य अपने तीनों ग्रन्थोंमें यह मानकर चले हैं कि उनका पाठक जैन परिभाषा और जैन सिद्धान्तोंका पूरा-पूरा जानकार है। उनका उद्देश्य पाठकको प्राथमिक जैन परिभाषा या जैन सिद्धान्तका ज्ञान कराना नहीं है किन्तु जैन सिद्धान्तके अन्तिम निष्कर्षोंकी चर्चा करना है। इस अनुवादमें अजैन पाठक या प्राथमिक जैन वाचकके लिए उपयोगी टिप्पण लगाना अशक्य-सा लगा, अतः ऐसे पाठकोंको इस ग्रन्थमाला [ पूजाँ भाई जैन ग्रन्थमाला ] में प्रकाशित 'भगवान् महावीरके अन्तिम उपदेश' पुस्तक बाँच लेना या पासमें रखना उचित होगा।

■

## विषय-सूची

### उपोद्घात



### व्यावहारिक दृष्टिबिन्दु

## पारमार्थिक दृष्टिबिन्दु



■

# उपोद्घात

## १. दिगम्बर-परम्परामें श्रीकुन्दकुन्दाचार्यका स्थान

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्॥

'भगवान् महावीर मंगलरूप हैं, गणधर गौतम मंगलरूप हैं, आर्य कुन्दकुन्दाचार्य मंगलरूप हैं, और जैनधर्म मंगलरूप है।'

शास्त्र-वाचन आरम्भ करनेसे पहले प्रत्येक पाठक मंगलाचरणके रूपमें उल्लिखित श्लोक पढ़ता है। इससे पता चलता है कि जैन-परम्परामें, विशेषतः दिगम्बर-सम्प्रदायमें आचार्य कुन्दकुन्दका कितना सम्मान है। महावीर भगवान् और गौतम गणधरके बाद ही उनका स्थान आ जाता है। दिगम्बर साधु अपने आपको कुन्दकुन्दाचार्यकी परम्पराका कहलानेमें गर्व अनुभव करते हैं। बादके बहुतेरे लेखकोंको उनके ग्रन्थोंसे प्रेरणा मिली है और टीकाकार तो उनके ग्रन्थोंमें-से बहुत-से अवतरण उद्धृत करते हैं। पंचास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार नामक उनके यह तीन प्रसिद्ध ग्रन्थ 'नाटकत्रय' या 'प्राभृतत्रय' कहलाते हैं। दिगम्बर-परम्परामें इनका वही स्थान है जो वेदान्तियोंके 'प्रस्थानत्रय' ( उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता ) का उनकी परम्परामें है।

दिगम्बर सम्प्रदायका मुख्य धाम दक्षिण देश गिना जाता है। आधुनिक समयमें गुजरात प्रान्तके जैनी और जैनेतरोंको दिगम्बर ग्रन्थोंका परिचय करानेका श्रेय श्रीमद्राजचन्द्रको है। वह स्वयं दिगम्बर सम्प्रदायके नहीं थे, किन्तु उनके द्वारा स्थापित परमश्रुतप्रभावक मण्डलने हिन्दी अनुवादके साथ बहुत-से दिगम्बर ग्रन्थोंको प्रकाशित किया है जिससे संस्कृत-

प्राकृत भाषा न जाननेवालोंके लिए उन ग्रन्थोंके परिचय करनेका मार्ग सुगम बन गया है।

### दिगम्बर सम्प्रदाय

आगे बढ़नेसे पहले दिगम्बर सम्प्रदाय और उसके प्रारम्भके इतिहास-के सम्बन्धमें जानकारी हासिल कर लेना उचित होगा।

भगवान् महावीरके निर्वाणके पश्चात् ( ई० स० पूर्व ४६७ ) की आचार्य-परम्परामें सम्भूतिविजय सातवें हैं। उनकी मृत्युके बाद उनके गुरु-भाई भद्रबाहु आचार्य बने। उनका समय भ० महावीरके पश्चात् १७० वर्ष अर्थात् ई० स० पूर्व २९७ वर्ष माना जाता है। उस समय अशोकका पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य मगधकी राजगद्दीपर था। उसके शासनकालमें मगधमें, बारह वर्षका भयानक अकाल पड़ा। ऐसे समयमें वहाँ विशाल साधुसंघका धारण-पोषण होना कठिन समझकर भद्रबाहु अपने कतिपय अनुयायी साधुओंको लेकर दक्षिणमें कर्णाट देशमें चले गये। यही घटना दक्षिणमें जैनधर्मके प्रचारका और जैनसंघके दिगम्बर-श्वेताम्बर विभागों-का कारण बनी।

मगधमें जो साधु रह गये थे, उनके नायक स्थूलभद्र बने। इन लम्बे बारह वर्षोंके दरम्यान, उत्तर प्रान्तमें रहे हुए और दक्षिण प्रान्तमें गये हुए साधु-संघके आचार-विचारमें भेद हो गया। कहा जाता है कि दुष्कालके समय उत्तर भारतके साधुओंको अपने बहुत-से कठोर आचार नियमोंका त्याग कर देना पड़ा। यह भी कहा जाता है कि दक्षिण भारतमें जानेवाले साधुओंका मुख्य उद्देश्य, दुष्कालके भयानक समयमें अपने व्रत नियमोंको भंग न होने देना ही था। मतलब यह कि दक्षिणमें जानेवाले साधु अपने नग्नत्व आदि आचारोंको भलीभाँति सुरक्षित रख सके, जब कि उत्तरके साधुओंको देश और कालका अनुसरण करके सफ़ेद वस्त्र पहननेकी छूट लेनी पड़ी। कहा जा सकता है कि यही बात दिगम्बर –

दिशारूपी वस्त्रवाले अर्थात् नग्न और श्वेताम्बर – सफ़ेद वस्त्रवाले – इन दो विभागोंका मुख्य कारण बनी। यद्यपि स्पष्ट रूपसे दो विभाग तो बादमें, वज्रस्वामीके शिष्य वज्रसेनके समयमें ( ई० स० पूर्व ७९ या ८२ में ) हुए यह कहा जाता है; तथापि कहना चाहिए कि इस प्रकारका कुछ विच्छेद जैनसंघमें पहलेसे ही चला आ रहा था। क्योंकि महावीरसे पहलेके तीर्थंकर पार्श्वनाथके अनुयायी वस्त्र पहनते थे[१] जब कि महावीरने वस्त्र न पहननेका नियम बनाया था। यह दोनों संघ महावीरके समयमें नहीं तो उनके पश्चात् उनके शिष्य गौतम इन्द्रभूतिके समयमें एक होने लगे थे ऐसा उल्लेख उत्तराध्ययन सूत्रमें ही मिलता है।

कुछ भी हो, उत्तर भारतमें रहे हुए साधुओंने स्थूलभद्रके समयमें ही पाटलिपुत्रमें एकत्रित होकर दुष्कालके समय लुप्त होनेसे बचे-खुचे आगम-ग्रन्थोंको एकत्र किया। उन्हें दक्षिण भारतके साधुओंने प्रमाणभूत माननेसे इनकार कर दिया। उन्होंने यह स्थिर किया कि जैनधर्मके आगमग्रन्थ दुष्कालके समयमें नष्ट हो गये हैं।

इस प्रकार जब दक्षिणके संघके पास आगमग्रन्थ न रहे तब उस संघ-को प्रमाणभूत शास्त्रीय ग्रन्थ अर्पित करनेवाले पुरुषोंमें इस रत्नत्रयके कर्त्ता श्रीकुन्दकुन्दाचार्य थे। वह कौन थे? किस समय हुए? यह अब देखना चाहिए।

## २. श्रीकुन्दकुन्दाचार्य

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके विषयमें हमें दो कथाएँ मिलती हैं। वह दोनों दन्तकथाएँ कुन्दकुन्दाचार्यके बाद, बहुत समय पीछे लिखी गयी हैं अतएव स्वतन्त्र रूपसे उन्हें कोई आधार नहीं बनाया जा सकता।

१. भरतखण्डके दक्षिण देशमें पिदठनाडु ज़िलेके कुरुमराई नगरमें, करमुण्ड नामक श्रीमान् व्यापारी अपनी पत्नी श्रीमतीके साथ रहता था।

---

१. यह दिगम्बर सम्प्रदायकी मान्यता नहीं —सम्पा०।

उसके यहाँ मतिवरन् नामका एक ग्वाला लड़का रहता था और उसके ढोर संभालता था। एक दिन लड़केने देखा कि दावानल सुलगनेसे सारा वन खाक हो गया है, किन्तु बीचमें थोड़े-से झाड़ हरे-हरे बच रहे हैं, तलाश करने पर पता चला कि वहाँ किसी साधुका आश्रम था और उसमें आगमोंसे भरी एक पेटी थी। उसने समझा, इस शास्त्रग्रन्थोंकी मौजूदगी-के कारण ही इतना भाग दावानल-द्वारा भस्म होनेसे बच रहा है। उन ग्रन्थोंको वह अपने ठिकाने ले गया और बड़ी सावधानीके साथ उनकी पूजा करने लगा। किसी दिन एक साधु उस व्यापारीके यहाँ भिक्षाके लिए आये। सेठने साधुको अन्नदान दिया। उस लड़केने भी वह ग्रन्थ साधुको दान दे दिये। साधुने सेठ और लड़के दोनोंको आशीर्वाद दिया। सेठके पुत्र नहीं था। थोड़े समय बाद वह ग्वाला लड़का मर गया और उसी सेठके घर पुत्रके रूपमें जन्मा। बड़ा होने पर वही लड़का कुन्दकुन्दाचार्य नामक महान् आचार्य हुआ। यह है शास्त्रदानकी महिमा[1]!

२. पण्डित नाथूरामजी प्रेमी 'ज्ञानप्रबोध' नामक ग्रन्थके आधारपर दूसरी दन्तकथाका इस प्रकार उल्लेख करते हैं[2] –

---

१. इस दन्तकथाका उल्लेख प्रो० चक्रवर्तीने पंचास्तिकाय ग्रन्थकी अपनी प्रस्तावनामें किया है। वे कहते हैं कि 'पुण्यास्रव कथा' ग्रन्थमें शास्त्र-दानके उदाहरण रूपमें यह कथा दी गयी है। उनके द्वारा उल्लिखित यह 'पुण्यास्रव कथा' ग्रन्थ कौन-सा है, कुछ निश्चित नहीं किया जा सकता। नागराजने (ई० स० १३३१) 'पुण्यास्रव' नामक संस्कृत ग्रन्थ कनड़ीमें भाषान्तर किया है, ऐसा अपने अनुवादमें प्रकट किया है। परन्तु उसके आधारपर शक सं० १७३९ में हुए मराठी अनुवादमें यह कथा नहीं पायी जाती। विशेष नामोंकी रचना आदिसे, जान पड़ता है, प्रो० चक्रवर्तीके पास कोई तामिल भाषाका ग्रन्थ होना चाहिए।

२. देखो – जैनहितैषी पु० १० पृ० ३६९।

मालव देशमें, वारापुर नगरमें कुमुदचन्द्र नामक राजा राज्य करता था। उसकी रानीका नाम कुमुदचन्द्रिका था। उसके राज्यमें कुन्दश्रेष्ठी नामका व्यापारी अपनी कुन्दलता नामक पत्नीके साथ रहता था। उसके पुत्रका नाम कुन्दकुन्द था। एक दिन जिनचन्द्र नामक आचार्यका उपदेश ग्यारह वर्षके बालक कुन्दकुन्दने सुना। आचार्यके उपदेशका उसपर इतना गहरा असर हुआ कि वह उनका शिष्य बन गया और उन्हींके साथ रहने लगा। थोड़े ही समयमें कुन्दकुन्द, जिनचन्द्रके अन्य सब शिष्योंसे आगे आ गये और ३३ वर्षकी उम्रमें तो उन्हें आचार्य पदवी प्राप्त हो गयी। ध्यानादिमें श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने इतनी प्रगति की थी कि एक बार कुछ शंका होनेपर उन्होंने विदेह क्षेत्रमें स्थित श्रीसीमन्धर स्वामीका चिन्तन इतनी उत्कटताके साथ किया कि सीमन्धर स्वामी सभामें बैठे-बैठे ही अधबीचमें बोल उठे – 'सद्धर्मवृद्धिरस्तु'। उस समय सभामें जो लोग बैठे थे, वह कुछ भी न समझ पाये कि स्वामीने अधबीचमें, किसके उत्तरमें यह वाक्य बोले हैं। तब सीमन्धर स्वामीने सभाजनोंको कुन्दकुन्दाचार्यके विषयमें बात बतायी। उसके बाद दो चारण सन्त, जो पूर्व जन्ममें कुन्दकुन्दाचार्यके मित्र थे, उन्हें आकाशमार्गसे, भरतक्षेत्रसे विदेह क्षेत्रमें ले आये। कुन्दकुन्दाचार्य वहाँ एक सप्ताह रहे और उन्होंने अपनी समस्त शंकाओंका समाधान प्राप्त किया। तदनन्तर तीर्थयात्रा करते-करते वे भरतक्षेत्रमें लौट आये। उनके उपदेशसे सात सौ स्त्री-पुरुषोंने दीक्षा ग्रहण की। कुछ समय बाद, गिरनार पर्वतपर श्वेताम्बरोंके साथ उनका विवाद हुआ। उन्होंने वहाँकी ब्राह्मी देवतासे स्वीकार कराया कि दिगम्बर मत ही सच्चा है।

इन दोनों दन्तकथाओंमें माता-पिताके नामोंमें तथा निवासस्थानके विषयमें स्पष्ट मतभेद है। दूसरी दन्तकथामें माता-पिताके समान अक्षरोंके जो नाम हैं वे सहज ही सन्देह उत्पन्न करते हैं। कुन्दकुन्दाचार्यके विदेह क्षेत्रमें जानेकी घटनाका उल्लेख सर्वप्रथम वि० सं० ९९० में हुए देवसेनने 'दर्शनसार' ग्रन्थमें किया है। 'पंचास्तिकाय' की टीकामें जयसेन प्रकट

करते हैं कि दन्तकथा ( प्रसिद्ध-कथा-न्याय ) के अनुसार कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं पूर्व विदेहमें गये थे और श्रीसीमन्धर स्वामीके पाससे विद्या सीखकर आये थे। श्रवणबेलगोलके शिलालेखोंमें भी, जिनका अधिकांश भाग बारहवीं शताब्दीका है, उल्लेख मिलता है कि कुन्दकुन्दाचार्य हवामें ( आकाशमें ) अधर चल सकते थे।

श्वेताम्बरोंके साथ गिरनार पर्वतपर जो विवाद हुआ था, उसका उल्लेख आचार्य शुभचन्द्र ( ई० स० १५१६–५६ ) ने अपने पाण्डवपुराण-में किया है। एक गुर्वावलीमें भी इस बातका उल्लेख है।[1]

इतना तो निश्चित है कि दोनोंमें-से कोई भी दन्तकथा हमें ऐसी जानकारी नहीं कराती जिसे ऐतिहासिक कहा जा सके। उनमें थोड़ी-बहुत जो बातें हैं, उनमें भी दोनों दन्तकथाओंमें मतभेद है। बाक़ी आकाशमें उड़नेको और सीमन्धर स्वामीकी मुलाक़ातकी बात कोई खास मतलबकी नहीं। अतएव अब हमें दूसरे आधारभूत स्थलोंसे जानकारी पानेके लिए खोज करनी चाहिए।

## भद्रबाहुके शिष्य ?

कुन्दकुन्दाचार्यने स्वयं, अपने ग्रन्थोंमें अपना कोई परिचय नहीं दिया। 'बारस अणुवेक्खा' ग्रन्थके अन्तमें उन्होंने अपना नाम दिया है, और 'बोधप्राभृत' ग्रन्थके अन्तमें वे अपने आपको 'द्वादश अंग-ग्रन्थोंके ज्ञाता तथा चौदह पूर्वोंका विपुल प्रसार करनेवाले गमकगुरु श्रुतज्ञानी भगवान् भद्रबाहुका शिष्य' प्रकट करते हैं। 'बोधप्राभृत' की इस गाथापर श्रुत-सागरने ( १५वीं शताब्दीके अन्तमें ) संस्कृत टीका लिखी है। अतएव इस गाथाको प्रक्षिप्त गिननेका इस समय हमारे पास कोई साधन नहीं है। दिगम्बरोंकी पट्टावलीमें दो भद्रबाहुओंका वर्णन मिलता है। दूसरे भद्रबाहु

१. देखो—जैनहितैषी पु० १० पृ० ३७२।

महावीरके बाद ५८९–६१२ वर्ष अर्थात् ई० स० ६२–८५ में हो गये हैं। परन्तु उन्हें बारह अंगों और चौदह पूर्वोका ज्ञाता नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ऐसी परम्परा है कि चार पूर्वग्रन्थ तो प्रथम भद्रबाहुके बाद ही लुप्त हो गये थे और वही अन्तिम चौदह पूर्वोके ज्ञाता थे। अब अगर कुन्दकुन्दाचार्य प्रथम भद्रबाहुके शिष्य हों तो कहना चाहिए कि वे ई० स० पूर्व तीसरी शताब्दीमें हुए हैं। मगर कई कारणोंसे यह निर्णय स्वीकार नहीं किया जा सकता। जैन दन्तकथा या परम्परामें कहीं भी ऐसा प्रमाण नहीं मिलता, जिससे कुन्दकुन्दाचार्यको भद्रबाहुका समकालीन गिना जा सके। इसके विपरीत, जो परम्पराएँ उपलब्ध हैं, वे उक्त निर्णयका विरोध करती हैं। ऐसी स्थितिमें कुन्दकुन्दाचार्यको भद्रबाहुका परम्परा-शिष्य गिनना चाहिए। साहित्यमें बहुत बार ऐसा ही होता है। उदाहरणार्थ – 'उपमिति-भवप्रपंचकथा' के लेखक सिद्धर्षि ( ई० स० ९०६ ) हरिभद्रको अपना 'धर्मप्रबोधकर गुरु' कहते हैं। परन्तु अन्य विश्वसनीय प्रमाणोंसे सिद्ध हो चुका है कि वे समकालीन नहीं थे; क्योंकि हरिभद्र तो आठवीं शताब्दीके अधबीचके बादके समयमें हो चुके हैं। कुन्दकुन्दाचार्य अपने आपको भद्रबाहुके शिष्यके रूपमें परिचित कराते हैं, इसका एक कारण यह हो सकता है कि भद्रबाहु ही दक्षिण जानेवाले संघके अगुवा और नेता थे। दक्षिणका संघ, उनकी मृत्युके पश्चात् यदि माने कि हमें समस्त धार्मिक ज्ञान उन्हींके द्वारा प्राप्त हुआ है तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। अतएव यह सम्भव है कि कुन्दकुन्दाचार्य भी यह मानते हों कि हमें समस्त ज्ञान भद्रबाहुके द्वारा ही प्राप्त हुआ है और इसी कारण वे अपनेको भद्रबाहुका शिष्य प्रकट करते हों।

## कालनिर्णय

पट्टावलियोंके आधारपर जैनोंमें परम्परागत मान्यता यह है कि कुन्दकुन्दाचार्य, ई० स० पूर्व १ली सदीमें तैंतीस वर्षकी उम्रमें आचार्य पदपर

प्रतिष्ठित हुए; और बावन वर्षतक उस पदपर रहकर ८५ वर्षके आस-पास निर्वाणको प्राप्त हुए। भिन्न-भिन्न पट्टावलियोंमें वर्षके ब्योरेमें अन्तर है। जैसे – एक पट्टावलीमें बतलाया गया है कि ई० स० ९२ में ( वि० स० १४९ ) उन्होंने आचार्य पद प्राप्त किया था। 'विद्वज्जनबोधक' में उद्धृत एक श्लोकमें बतलाया गया है कि कुन्दकुन्दाचार्य महावीरके बाद ७७० वें वर्षमें अर्थात् ई० स० २४३ में जन्मे थे। उसमें यह भी लिखा है कि तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता उमास्वाति उनके समकालीन थे। परन्तु सबसे पहली बतलायी परम्परा ही अधिक प्रचलित है।

भिन्न-भिन्न ग्रन्थों और लेखोंके प्रमाणके आधारपर कुन्दकुन्दाचार्यका समय कितना निश्चित किया जा सकता है, यह अब देखना चाहिए। सबसे प्राचीन दिगम्बर टीकाकार पूज्यपाद स्वामी अपने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ ( २।२० ) में पाँच गाथाएँ उद्धृत करते हैं। वे पाँचों ही गाथाएँ उसी क्रमसे, कुन्दकुन्दाचार्यके 'बारस अणुवेक्खा' (२५।२९) ग्रन्थमें पायी जाती हैं। पूज्यपाद पाँचवीं शताब्दीके मध्यमें हो चुके हैं; अतएव कुन्दकुन्दाचार्य इससे पहले ही हो चुके हैं, इतना तो निश्चित ही हो जाता है। फिर शक ३८८ अर्थात् ई० स० ४६६ के मरकराके ताम्रलेखोंमें छह आचार्योंके नाम हैं और बतलाया गया है कि यह छहों आचार्य कुन्दकुन्दाचार्यकी परम्परा ( 'कुन्दकुन्दान्वय' ) में हुए हैं। किसी आचार्यका अन्वय, उसकी मृत्युके तत्काल बाद आरम्भ नहीं होता। उसे आरम्भ होनेमें कमसे कम सौ वर्ष लग जाते हैं, ऐसा मान लिया जाय और यह छह आचार्य एकके बाद दूसरेके क्रमसे हुए होंगे, यह भी मान लिया जाय तो कुन्दकुन्दाचार्यका समय पीछेसे पीछे तीसरी शताब्दी ठहरता है।

कुन्दकुन्दाचार्यके 'पंचास्तिकाय' ग्रन्थकी टीकामें जयसेन ( बारहवीं शताब्दीका मध्य भाग ) कहते हैं कि कुन्दकुन्दाचार्यने वह ग्रन्थ 'शिवकुमार महाराज' के बोधके लिए लिखा था। शिवकुमार राजा कौन है इस विषयमें बहुत मतभेद है। दक्षिणके पल्लववंशमें शिवस्कन्द नामक राजा

हो गया है। स्कन्द अर्थात् कार्तिकेय शिवके कुमार थे। अतएव इन दोनों नामोंमें कोई खास भेद नहीं रहता। पल्लवोंकी राजधानी कोंजीपुर थी और वे विद्या तथा विद्वानोंके आश्रयदाता थे, ऐसी उनकी ख्याति है। इसके अतिरिक्त कोंजीपुरम्के शिवस्कन्द वर्मा राजाका एक दानपत्र मिलता है। वह प्राकृतभाषामें है और उसके आरम्भमें 'सिद्धम्' शब्द है। इससे वह राजा जैन था, यह कल्पना की जा सकती है। इसके सिवाय अन्य अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध किया जा सकता है कि उसके दरबारकी भाषा प्राकृत थी। अतएव कुन्दकुन्दाचार्यने उस राजाके लिए अपना ग्रन्थ लिखा है, यह माना जा सकता है। पल्लवराजाओंको वंशावली मिलती तो है, फिर भी यह निश्चित नहीं कि शिवकुमार किस समय हुआ है। अतएव कुन्दकुन्दाचार्यका कालनिर्णय करनेमें इस तरफ़से हमें कोई सहायता नहीं मिलती। परन्तु इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि बहुत सम्भव है, पल्लववंशका कोई राजा कुन्दकुन्दाचार्यका शिष्य रहा होगा।

## श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके नाम

कुन्दकुन्दाचार्यके दूसरे नामोंके विषयमें बहुत-से उल्लेख मिलते हैं; और उन नामोंके आधारपर उनके कालनिर्णयमें कोई सहायता मिल सकती है या नहीं, यह अब देखना चाहिए।

'पंचास्तिकाय'की टीकामें जयसेनका कहना है कि कुन्दकुन्दका दूसरा नाम पद्मनन्दी था। परन्तु चौदहवीं शताब्दीके पीछेके लेखोंमें कुन्दकुन्दके पाँच नामोंका वर्णन आता है। जैसे विजयनगरके ई० स० १३८६ के एक शिलालेखमें उनके पाँच नाम इस तरह दिये गये हैं – पद्मनन्दी, कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृध्रपिच्छ। इनमें-से यह तो बहुत अंशोंमें निर्विवाद है कि कुन्दकुन्दाचार्यका दूसरा नाम पद्मनन्दी था। इसी प्रकार यह भी निर्विवाद है कि वक्रग्रीव और गृध्रपिच्छ, यह दोनों नाम उनके नहीं हैं, भूलसे उनके मान लिये गये हैं। गृध्रपिच्छ तो तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता

उमास्वातिका ही नाम है और वक्रग्रीवाचार्य नामक व्यक्ति जुदा ही हैं और उनमें तथा कुन्दकुन्दाचार्यमें कुछ भी सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। अब एक मात्र 'एलाचार्य' नाम ही रह जाता है जिसके सम्बन्धमें निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि वह कुन्दकुन्दाचार्यका नाम था या नहीं ? जैन-परम्परा बतलाती है कि दक्षिणके प्रसिद्ध तामिल ग्रन्थ 'कुरल' के लेखक एलाचार्य नामक जैन साधु थे और इस कारण कुछ लोग कुन्दकुन्दाचार्यको ही कुरल ग्रन्थका लेखक मानते हैं। कुरल ग्रन्थ ईसाकी पहली सदीमें रचा गया माना जाता है[1]। अब अगर कुन्दकुन्दाचार्य इस ग्रन्थके लेखक सिद्ध हों तो उनका समय भी ईसाकी पहली सदी ही ठहरेगा। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ईसाकी पहली शताब्दीके दरम्यान ऐसे संयोग थे जरूर – कि कुन्दकुन्दाचार्य-जैसे समर्थ लेखक, जैनपरिभाषा या सिद्धान्तका आश्रय लिये बिना धार्मिक ग्रन्थ वहाँकी भाषामें लिखनेके लिए प्रेरित होते। ईसासे पूर्व तीसरी सदीमें भद्रबाहुके आगमनके पश्चात् मैसूरके आस-पास जैनोंने अपने पैर जमा लिये थे; और दो सौ वर्षके बाद वे और भी दक्षिण तक पहुँच गये होंगे। आम जनतामें जैनधर्मका प्रचार करना हो तो उसीकी भाषामें और उसके गले उतरने योग्य रीतिसे उसे उपस्थित करना चाहिए। और जैन आचार्योंका यह तरीका ही था कि वे जहाँ जाते वहाँकी स्थानीय भाषामें ही अपने सिद्धान्तोंका उपदेश करते थे। ऐसी स्थितिमें उन्होंने द्राविड देशोंमें अपने धर्मका प्रचार करनेके लिए तामिल भाषाका उपयोग किया हो, यह जरा भी असम्भव प्रतीत नहीं होता। कुरलमें आर्य लोगोंके विचारोंकी और आर्यसंस्कृतिकी जो छाप दिखाई देती है, उसका स्पष्टीकरण भी इसी प्रकार किया जा सकता है; क्योंकि जैन उसी समय उत्तर भारत या मगधसे आये। मगधके जैनोंको मगधकी राजनीति और राजकारणका परिचय होना ही चाहिए और यह सम्भव है कि उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें मगधके राजकीय सिद्धान्तोंको सम्मि-

१. देखो स्टडीज इन साउथ इण्डियन जैनिज्म पृ० ४०।

लित किया है। यही कारण है कि कौटिल्यके अर्थशास्त्र और कुरलमें बहुत-सी बातोंकी समानता दिखाई देती है।

इतनी लम्बी चर्चाके बाद, कुन्दकुन्दाचार्यके कालनिर्णयके विषयमें हम इतना निश्चित कर सके कि पट्टावलियोंकी प्राचीन परम्परा उन्हें ई० स० पूर्व पहली सदीके मध्यमें या ई० स० की पहली सदीके मध्यभागमें रखती है। मरकराके ताम्रपटोंके आधारपर उनका समय पीछेसे पीछे तीसरी शताब्दी-का मध्यभाग सिद्ध होता है। और यदि वे (कुन्दकुन्दाचार्य) और कुरल ग्रन्थके लेखक एलाचार्य एक ही व्यक्ति हों तो ई० स० के प्रारम्भिक अर्सेमें कुन्दकुन्दाचार्य हो गये हैं, ऐसा माननेके लिए हमें पर्याप्त कारण मिलते हैं।

### ३. कुन्दकुन्दाचार्यके ग्रन्थ

कुन्दकुन्दाचार्यके नामपर अनेक ग्रन्थ मढ़े हुए हैं। उनमें-से बहुत-से तो ऐसे हैं जिनका नाममात्र ही उपलब्ध है; और बाक़ी जो ग्रन्थ कुन्द-कुन्दाचार्यके कहलाते हैं, उनमें-से अधिकांशमें शायद ही कहीं कुन्दकुन्दा-चार्यने लेखकके रूपमें अपने नामका उल्लेख किया है। कुछ ग्रन्थोंको तो टीकाकारके कहनेसे ही कुन्दकुन्दाचार्यका मानना पड़ता है; और शेषके विषयमें इतना ही कहा जा सकता है कि, यह ग्रन्थ कुन्दकुन्दाचार्यके हैं, ऐसी परम्परा है। बहुत सम्भव है कि पीछेके बहुत-से लेखकोंने अपने ग्रन्थ कुन्दकुन्दाचार्यके नामपर मढ़ दिये हों, इस स्थितिमें हमारे पास एक ही मार्ग रह जाता और वह यह कि जिस ग्रन्थके विषयमें परम्परामें विरोध हो अथवा कोई दूसरा लेखक उस ग्रन्थको अपनी कृति बतलाता हो तो उस ग्रन्थको शंकास्पद मानना चाहिए।[1]

---

१. ऐसे ग्रन्थोंमें षट्खण्डागम टीका तथा मूलाचार हैं। षट्खण्डागम टीका कुन्दकुन्दके शिष्य कुन्दकीर्तिने लिखी है यह श्रुतावतारमें विबुध श्रीधर सूचित करते हैं। पर यह सम्प्रति अनुपलब्ध है। मूलाचारके टीकाकार बसुनन्दि इस ग्रन्थको वट्टकेरिकृत लिखते हैं। इसलिए दोनों ग्रन्थोंका कुन्दकुन्दकृत होना शंकास्पद है।

१ **चौरासी पाहुड** – कहा जाता है कि कुन्दकुन्दाचार्यने चौरासी पाहुड ग्रन्थोंकी रचना की थी। पाहुड ( प्राभृत ) अर्थात् प्रकरण। आज जो भी पाहुड उपलब्ध हैं, उनसे जान पड़ता है कि वे ग्रन्थ विभिन्न विषयोंपर छोटे-छोटे प्रकरणके समान होंगे। कुन्दकुन्दाचार्यके समयमें दक्षिणके जैनसंघको अपने आचार-विचारके लिए जब शास्त्र-ग्रन्थोंकी आवश्यकता पड़ी होगी, तब कुन्दकुन्दाचार्य-जैसेको, गुरुपरम्परासे उन्होंने जो सुना और उपलब्ध किया था उसे, ग्रन्थबद्ध कर देनेकी आवश्यकता पड़ी होगी। हालाँकि इस समय तो उन चौरासी पाहुडोंमें-से सबके नाम तक नहीं मिलते।

२ **दशभक्ति** – इन दशभक्तियोंमें-से आठ भक्तियोंकी प्रति उपलब्ध है और शेष भक्तियोंके अंतिम प्राकृत फ़िकरे ही मिलते हैं। उनमें तीर्थंकर, सिद्ध, अनगार, आचार्य, पंचपरमेष्ठी वग़ैरहकी स्तुति है। उसमें जो गद्य-वाक्य हैं वे श्वेताम्बरोंके आगमग्रन्थ 'प्रतिक्रमणसूत्र' और 'आवश्यकसूत्र' तथा 'पंचसूत्र'से मिलते-जुलते हैं। अतएव इन दशभक्तियोंका अधिकांश भाग दिगम्बर-श्वेताम्बर-विभाग होनेसे पहलेका होना चाहिए और दिगम्बरों तथा श्वेताम्बरोंके द्वारा स्वतन्त्र रूपसे संगृहीत किया हुआ होना चाहिए। हो सकता है कि परम्परासे चले आये गद्य भागोंको समझाने और उनका विवरण देनेके लिए कुन्दकुन्दाचार्यने पद्य भाग लिये हों या एकत्रित किये हों।

३ **आठ पाहुड**—दर्शन, चारित्र, सूत्र, बोध, भाव, मोक्ष, लिंग और शील इन आठ विषयोंपर ये स्वतन्त्र पद्यग्रन्थ हैं।

४ **रत्नसार ( रयणसार )**—इसमें १६२ श्लोक हैं। इनमें एक दोहा और शेष सब गाथाएँ हैं। इस ग्रन्थमें गृहस्थ तथा भिक्षुके धर्मोंका वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ कुन्दकुन्दाचार्य-रचित होनेकी बहुत कम सम्भावना है। अथवा इतना तो कहना ही चाहिए कि उसका विद्यमान रूप ऐसा है जो हमें सन्देहमें डालता है। इसमें अपभ्रंशके कुछ श्लोक हैं

और गण, गच्छ, और संघके विषयमें जिस प्रकारका विवरण है, वह सब उनके अन्य ग्रन्थोंमें नहीं मिलता।

५ **बारस अणुवेक्खा** ( द्वादशानुप्रेक्षा )—इसमें ९१ गाथाएँ हैं। जैनधर्ममें प्रसिद्ध बारह भावनाओंका विवरण है। इस ग्रन्थकी अन्तिम गाथामें कुन्दकुन्दाचार्यका नाम है।

६ **नियमसार**—इसमें १८७ गाथाएँ हैं। पद्मप्रभुने इसपर टीका लिखी है और उनके कथनानुसार ही हमें पता चलता है कि यह ग्रन्थ कुन्दकुन्दाचार्यका है। सम्पूर्ण ग्रन्थका विवरण तथा उसकी पद्धति कुन्दकुन्दाचार्यके अन्य ग्रन्थोंके अनुरूप है। इस ग्रन्थका उद्देश्य ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप 'रत्नत्रय'का, जो मोक्षमार्गमें आवश्यक है, नियमेन – खासतौरसे ज्ञान कराना है।

७-८-९, **नाटकत्रयी** – 'पंचत्थिसंग्रह' ( पंचास्तिकाय ), 'समय सार' और 'प्रवचनसार' ( पवयणसार ) इन तीन अन्तिम ग्रन्थोंको 'नाटकत्रयी' कहते हैं। वास्तवमें तो 'समयसार' ग्रन्थमें ही जीव-अजीवतत्त्वोंका संसाररूपी रंगभूमिमें अपना-अपना पार्ट अदा करनेवाला निरूपण किया गया है; अतएव यही ग्रन्थ 'नाटक' नामका पात्र है—इसीको नाटक कहा जा सकता है। परन्तु यह तीन ग्रन्थ मिलकर 'प्राभृतत्रयी' कहलाते हैं और इसी कारण इन तीनोंका इकट्ठा नाम 'नाटकत्रयी' पड़ गया है; हालाँकि 'समयसार'को भी नाटक संज्ञा देनेवाले टीकाकार अमृतचन्द्र ही हैं। टीकाकारने सब तत्त्वोंका ऐसा निरूपण किया है जैसे नाटकके पात्र आते-जाते हों और इस कारण अपनी टीकामें इस ग्रन्थको नाटकका स्वरूप दिया है।

'पंचास्तिकाय' को 'संग्रह' नाम दिया गया है। इससे ऐसा जान पड़ता है कि इस ग्रन्थमें कुन्दकुन्दाचार्यने मुख्यतया अपने विषयसे सम्बद्ध श्लोकोंका संग्रह ही किया होगा। ग्रन्थको पढ़ते समय किसी-किसी स्थलपर पुनरावृत्ति या क्रमभंग होता हुआ प्रतीत होता है, इसका भी कारण

यही हो सकता है। टीकाकार अमृतचन्द्र ६४वीं वगैरह गाथाओंको 'सिद्धान्तसूत्र' बतलाते हैं। किसी-किसी जगह बीचमें ऐसे श्लोकसमूह नज़र आते हैं, जिनका पूर्वापर सम्बन्ध नहीं बैठता। और मोक्षचूलिका तो स्वतन्त्र विभाग ही प्रतीत होता है। अतएव यह सम्भव है कि कुन्दकुन्दाचार्यने अपने पूर्ववर्त्तियोंसे विरासतमें जो गाथाएँ उपलब्ध की होंगी उनका इस ग्रन्थमें संग्रह किया होगा।

'समयसार' जैनोंमें कुन्दकुन्दाचार्यका सर्वोत्तम ग्रन्थ माना जाता है। रूढ़िवादी तो यहाँ तक मानते हैं कि इस गूढ़ ग्रन्थको पढ़नेका गृहस्थोंको अधिकार ही नहीं है और इस मान्यताको कुछ आधार भी प्राप्त है। कारण यह है कि समयसारमें पारमार्थिक दृष्टिसे ही सारी चर्चा की गयी है, अतएव अनधिकारी साधारण जनको उसका कोई-कोई भाग सामाजिक और नैतिक व्यवस्थाको उलट-पलट कर देनेवाला प्रतीत हो सकता है। लेखक अपने पाठकको यह बतलाना चाहते हैं कि कर्मके सम्बन्धसे प्राप्त होनेवाली मूढ़ताके कारण बहुत-से लोगोंको आत्मज्ञान नहीं होता; अतएव प्रत्येक मनुष्यको अनासक्त होकर अजीवसे सर्वथा भिन्न आत्माका शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वरूप समझना चाहिए। लेखक यह मान लेते हैं कि उनका पाठक जैन परिभाषासे परिचित है। अतएव कहीं आत्माका वास्तविक स्वरूप, कहीं कर्मबन्धका स्वरूप, कहीं कर्मबन्धनको रोकनेका उपाय, इस प्रकार महत्त्वपूर्ण विषयोंपर वे अपना हृदय निःसंकोच भावसे खोलते चले जाते हैं। किसी-किसी जगह तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि लेखक बुद्धिसे परेकी वस्तुके अनुभवकी कहानी कह रहे हैं। कुछ स्थल ऐसे हैं जहाँ श्लोकोंके कुछ झूमके विषयके क्रमको भंग करके दाखिल हो गये हैं। वहाँ ऐसा लगे बिना नहीं रहता कि कुन्दकुन्दाचार्यने परम्परासे प्राप्त कतिपय श्लोक ग्रन्थमें सम्मिलित कर दिये हैं। ८५-८६ वें श्लोकोंमें 'दोकिरियावाद'का उल्लेख है और ११७, १२२ तथा ३४० वें श्लोकमें सांख्यदर्शनका नाम देकर उल्लेख है; यह बात ध्यानमें रखनेयोग्य है।

'समयसार'में कुल ४१५ अथवा ४३९ श्लोक हैं।

'प्रवचनसार' जैनोंमें बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उसकी प्रतियाँ प्रत्येक दिगम्बरके संग्रहमें होती ही हैं। इस ग्रन्थमें दीक्षा लेनेवाले साधकके लिए उपयोगी और आवश्यक उपदेश भरा है। इसकी रचना व्यवस्थित है और इसका निरूपण एक विषयसे दूसरे विषयपर क्रमशः आगे बढ़ता चलता है। इसमें लेखक सिर्फ़ विधान ही नहीं करता वरन सामने उठ सकनेवाली तर्कणाओंकी पहलेसे ही कल्पना करके उनके समाधानका प्रयत्न करता है। 'प्रवचनसार' वास्तवमें एक दार्शनिक ग्रन्थ है और साथ ही साधकके लिए उपयोगी शिक्षा-संग्रह भी है। सम्पूर्ण ग्रन्थमें किसी समर्थ तत्त्ववेत्ताकी लेखनीका प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है और उसकी प्रभावशाली तथा सरल शैलीको देखकर यह प्रतीत हुए बिना नहीं रहता कि यह लेख किसी सच्चे तत्त्वद्रष्टाके अन्तरसे उद्भूत हुआ है।

## प्रस्तुत अनुवाद

इस अनुवादमें इन तीनों ग्रन्थोंका एकत्रित सारानुवाद है। इन तीनों ग्रन्थोंमें स्वतः ही एक प्रकारकी ऐसी एकता है कि उनका विषय इस प्रकार एकत्रित किया जा सकता है। कितने ही प्रारम्भिक विषय तीनों ग्रन्थोंमें समान हैं, अतएव उनको पुनरावृत्ति सहज ही हट गयी है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक ग्रन्थमें जो कुछ विशेषता है उसकी एक ही पुस्तकमें योजना कर देनेसे विषयका निरूपण क्रमबद्ध और सम्पूर्ण हो जाता है। हाँ, यह अवश्य स्वीकार करना चाहिए कि ऐसा करनेसे समग्र ग्रन्थ न सिर्फ़ दार्शनिक रह गया है और न एक समर्थ तत्त्ववेत्ताकी अस्खलित रूपसे प्रवाहित होनेवाली तत्त्ववाणी-जैसा ही रह गया है। पंचास्तिकायमें सैद्धान्तिक भाग अधिक है और उपदेश भाग थोड़ा है। 'प्रवचनसार'में सैद्धान्तिक भाग कुछ गौण और साधनामार्गका भाग प्रधान हो जाता है। और 'समयसार'में तो सैद्धान्तिक भाग है ही नहीं, यह कहा जाय तो चल

सकता है। इस प्रकार एक ही पुस्तकमें सिलसिलेवार क्रममें प्राथमिक सैद्धान्तिक भाग और अन्तिम परिपूर्ण दशा तथा उसकी साधनाका वर्णन एक साथ रखनेमें ज़रा अनौचित्य होता है। 'समयसार' ग्रन्थ विशिष्ट अधिकारीके लिए ही है, ऐसी तो परम्परा भी है। इस ग्रन्थके मन्तव्यों और वक्तव्योंको 'पंचास्तिकाय'के प्रारम्भिक सैद्धान्तिक भागके साथ रखना अनुचित प्रतीत होता है। परन्तु इसका एक ही समाधान है और वह यह कि परम्परा ही तीनों ग्रन्थोंको एक संग्रहरूप मानती है और उन तीनोंका सम्मिलित 'रत्नत्रय' नाम देती है।

## कुन्दकुन्दाचार्यका वेदान्त

इस पुस्तकके जो महत्त्वपूर्ण भाग हैं, उनमें ऐसा कुछ नहीं है जो श्वेताम्बर या स्थानकवासी अथवा ब्राह्मण या बौद्ध सम्प्रदाय वालेको अस्वीकार्य जान पड़े। उलटा यह अवश्य कहा जा सकता है कि कुन्दकुन्दाचार्यके ग्रन्थ जैनदर्शन और वेदान्त तथा सांख्यदर्शनके बीचके लम्बे अन्तरको बहुत अंशोंमें कम कर देते हैं। हम यहाँ जीव और कर्म सम्बन्धी एक ही बात लें।

## जीव-कर्मका सम्बन्ध

जैनदर्शनमें साधारण तौरपर जीव कर्त्ता और भोक्ता माना गया है। जीव अनादि कालसे कर्म-रजसे युक्त है; और उस कर्मबन्धके कारण उसमें विविध विभाव-स्वभावसे विपरीत भाव उत्पन्न होते हैं। उन विभावोंके कारण फिर नवीन कर्मबन्धन होता है। कुन्दकुन्दाचार्यको इस अभिमतके साथ विरोध नहीं है; वे यह भी मानते हैं कि आत्माको कर्ता-भोक्ता माने बिना काम नहीं चलता। परन्तु वे एक क़दम आगे बढ़ते हैं। वे स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं कि 'जो दृष्टि आत्माको अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त समझती है वह पारमार्थिक दृष्टि है। आत्मा न प्रमत्त ( संसारी ) है, न अप्रमत्त ( मुक्त। )' ( स० ६-७ )

और वे अधिक स्पष्ट होकर कहते हैं – 'अध्यवसान आदि भाव जड़ द्रव्यके परिणमनसे निष्पन्न होते हैं ऐसा केवलज्ञानियोंने कहा है। उन्हें जीव किस प्रकार कहा जा सकता है ? आठों प्रकारका कर्म, जिसके परिणाम-स्वरूप प्राप्त होनेवाला फल 'दुःख'के नामसे प्रसिद्ध है, जड़ द्रव्यरूप-पुद्गलमय है। अध्यवसान आदि भाव जहाँ जीवके कहे गये हैं, वहाँ व्यवहारदृष्टिका कथन है। जीव तो अरस, अरूप, अगन्ध, अस्पर्श, अव्यक्त, अशब्द, अशरीर, सब प्रकारके लिंग आकार या संहनन ( शरीरके गठन ) से हीन तथा चेतना गुणवाला है। राग-द्वेष या मोह उसके नहीं हैं। प्रमाद आदि कर्मबन्धनके कारण भी उसके नहीं हैं। रागादि विकल्प – शारीरिक, मानसिक या वाचिक प्रवृत्तियाँ कषायकी तीव्रता, अतीव्रता या क्रमहानि, यह सब भी जीवके नहीं हैं। क्योंकि यह सब जड़-पुद्गल द्रव्यके परिणाम हैं। यह सब भाव व्यवहारदृष्टिसे जीवके कहलाते हैं – यह सब भाव जीवसे जुदा हैं। संसारप्रमुक्त जीवोंको इनमें-से कुछ भी नहीं होता। संसारी अवस्थामें भी यह वर्णादि व्यवहारदृष्टिसे ही जीवके हैं; वास्तवमें नहीं। संसारी अवस्थामें भी यह भाव वास्तवमें जीवके हों तो संसारस्थ जीव और जड़-पुद्गल द्रव्यके बीच अन्तर ही न रहे।' ( स० ४८-६८ )।

इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य सीधी सांख्यदर्शनकी या वेदान्तदर्शनकी स्थिति स्वीकार करते हैं। सांख्यदर्शन इन सब विभावोंको प्रकृतिका गुण स्वीकार करता है और वेदान्त उन्हें अन्तःकरण या चित्तका धर्म मानता है। परन्तु वस्तुतः आत्माके यह सब विभाव नहीं हैं, इस मान्यतामें कुन्द-कुन्दाचार्य उन्हींके साथ जा खड़े होते हैं। तो फिर प्रश्न खड़ा होता है कि जैनदर्शनमें जीवको कर्त्ता स्वीकार किया गया है सो उसका क्या हो ? कुन्दकुन्दाचार्य इस प्रश्नका जो स्पष्ट उत्तर देते हैं वह ठीक सांख्यवादी या वेदान्तवादीको ही सुहाता है। वे कहते हैं – 'जबतक अज्ञानी जीव आत्मा और क्रोधादिके बीचका अन्तर नहीं जानता तबतक वह क्रोधादिको अपना मानकर उनमें प्रवृत्त होता है; और इस कारण कर्मोंका संचय होता

है। सर्वज्ञोंने जीवको होनेवाला कर्मबन्ध इसी प्रकार कहा है। परन्तु जीव जब आत्मा और आस्रवका भेद जान लेता है, तब उसे कर्मबन्ध नहीं होता; क्योंकि जीव जब आस्रवोंकी अशुचिता और जड़ता आदिको जान जाता है, तब उनसे निवृत्त हो जाता है। वह समझता है कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, निर्मल हूँ तथा ज्ञानघन हूँ।' ( स० ६८-७४ )।

अन्तमें वे स्पष्ट कह देते हैं – 'व्यवहारदृष्टिवाला कहता है कि जीवको कर्मका बन्ध होता है, स्पर्श होता है; परन्तु शुद्ध दृष्टिवाला कहता है कि जीवको न कर्मका बन्ध होता है, न स्पर्श होता है। परन्तु यह सब दृष्टियोंके झगड़े हैं। आत्मा तो इन विकल्पोंसे परे है; और यही 'समयसार'का मत है। इसीको सम्यग्दर्शन या ज्ञान कह सकते हैं।' ( स० १४१ ) इत्यादि।

इस कथनसे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि कुन्दकुन्दाचार्य जैनधर्मके सिद्धान्तको सर्वथा त्याग देते हैं। क्योंकि ऐसा होता तो उनके सामने भी वही आक्षेप आ उपस्थित होते जो सांख्य या वेदान्तके सामने उपस्थित होते हैं। इसलिए वे यह अवश्य कहते हैं कि 'जीव स्वयं क्रोधादि रूपमें परिणत होकर कर्मसे बद्ध न होता तो वह अपरिणामी ठहरता और सांख्यसिद्धान्तकी भाँति संसाराभाव आदि दोष उपस्थित हो जाते। अतएव जीव स्वयमेव क्रोधभावमें परिणत होकर क्रोधरूप हो जाता है, ऐसा समझना चाहिए।' ( स० १२१ इत्यादि )।

परन्तु वे तुरन्त इतना और जोड़ देते हैं कि 'उसमें समझने योग्य इतना है कि ज्ञानीके भाव ज्ञानमय होते हैं और अज्ञानीके अज्ञानमय। तथा अज्ञानमय भावोंके कारण अज्ञानी कर्म बन्धन करता है, ज्ञानी नहीं करता। ज्ञानमय भावसे ज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होता है और अज्ञानमय भावसे अज्ञानमय भाव। जीवको अतत्त्वका भान होना और तत्त्वका अभान होना ही अज्ञान है।' ( स० १२६, १३१ आदि )।

'अनादि कालसे अपने साथ बँधे मोहनीय कर्मके कारण, वास्तवमें

शुद्ध और निरंजन जीव मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति इन तीन भावोंमें परिणत होता आया है। इन परिणामोंके निमित्तसे फिर पुद्गल द्रव्यकर्मके रूपमें परिणत होकर जीवके साथ बँध जाता है; और इन कर्मोंके निमित्त-से जीव फिर विविध विभाव रूपमें परिणत होता है।' (स० ८९ आदि)।

'जहाँतक जीवका ज्ञान गुणहीन अर्थात् सकषाय होता है, वहाँतक वह नाना और नाना प्रकारके परिणाम पाता रहता है; परन्तु जब वह उसका त्याग कर सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है तब विभाव परिणाम बन्द हो जाते हैं और कर्मका बन्ध नहीं होता।' ( स० १७२ )

'ज्ञानियोंने कर्मके परिणाम विविध कहे हैं, परन्तु कर्मोंके निमित्तसे होनेवाले भाव मेरा स्वरूप नहीं हैं; मैं तो एक चेतन स्वरूप हूँ। राग जड़ कर्म है, उसके कारण रागभाव उत्पन्न होता है, मगर वह भाव मेरा नहीं है। मैं तो एक चेतनस्वरूप हूँ। ज्ञानी इस प्रकार वस्तुस्वरूपको जानता है, अतएव विविध भावोंको कर्मका परिणाम समझकर उन्हें तज देता है।' ( स० १९७ )।

इस प्रकार अन्तमें तो वेदान्तका 'अज्ञान' या 'अविद्या' और सांख्यका 'अविवेक' ही आ उपस्थित होता है। अलबत्ता, इस अज्ञान दशामें भी सांख्य या वेदान्त इन विभावोंको 'पुरुष' या 'आत्मा'का नहीं कहेंगे, चित्त या अन्तःकरणका ही कहेंगे; जब कि जैनदर्शन इन विभावोंको, अज्ञान अवस्थामें 'जीव'के कहेगा। हालाँ कि इस विषयमें कुन्दकुन्दाचार्य जरा आगे बढ़ गये हैं। वे तो साफ-साफ कहते हैं कि यह सब विभाव 'मेरा स्वरूप नहीं हैं', राग जड़ कर्म है और इसीके परिणामस्वरूप यह रागभाव उत्पन्न होता है। परन्तु वह कोई मेरा स्वरूप नहीं है। मैं तो एक चेतन स्वरूप हूँ। आत्मा वास्तवमें ही कर्म और कर्मफलका कर्त्ता हो तो आत्मा-को कभी मोक्ष ही नहीं हो सकता। ( स० ३२१ आदि )।

उनके ग्रन्थोंमें साधकको बार-बार जो सलाह दी गयी है और एक मुख्य मार्ग बतलाया गया है, वह आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिन्तन और

उसमें स्थिति है। उसे पढ़ते समय हमें वेदान्तके श्रवण, मनन और निदिध्यासनकी याद आ जाती है। यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि कुन्दकुन्दाचार्य जैनसिद्धान्तमें गर्भित स्थितिको प्रकट करते हैं अथवा सम्पूर्ण करते हैं। जीवात्माका मूलस्वरूप नित्य शुद्ध-बुद्ध स्वीकार कर लिया तो फिर बीचमें दिखाई पड़नेवाले बन्धनको अविवेक भ्रम ही कहना पड़ेगा।

कुन्दकुन्दाचार्यके ग्रन्थोंमें जो विशेष वस्तु है, वह यही है। बाकी सारा सैद्धान्तिक निरूपण तथा परिभाषा वगैरह अन्य जैन सिद्धान्तग्रन्थोंसे खास भिन्न नहीं है। इतना ही नहीं, इसी मालामें श्वेताम्बरोंके आगम-ग्रन्थोंमें-से अनुवादित ग्रन्थोंसे परिचित पाठकोंको इस विषयमें कोई नवीनता या विशेषता नहीं दिखाई देगी। इसमें जैन भिक्षुके धर्मोंका और चर्याका जो निरूपण है वह भी अन्य श्वेताम्बर ग्रन्थोंके समान ही है। अतएव इन सब विषयोंका उल्लेख करनेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती।

एक आचार्य और सन्त पुरुषके रूपमें कुन्दकुन्दाचार्यकी महत्ता पाठकके मनमें अंकित करनेकी खास आवश्यकता है। बादके दिगम्बर साहित्यमें उनके लिए जिस मान और भक्तिभावके साथ उल्लेख किये गये हैं, उन्हें देखनेवाले ही उनकी कल्पना कर सकते हैं। दूर दक्षिणमें, लम्बे समयसे, मूल संघसे बिछुड़े हुए संघको जिस आचार्यने ज्ञान और दर्शन प्रदान किया तथा चारित्रका मार्ग सुलभ बना दिया, उस आचार्यके विषयमें उस संघके लोग तो कवि वृन्दावनदासजीके शब्दोंमें यही कहेंगे :

"विशुद्ध बुद्धि वृद्धिदा प्रसिद्ध ऋद्धि सिद्धिदा,<br>हुए न, हैं न, होंहिंगे मुनिंद कुन्दकुन्द से।"

■

# कुन्दकुन्दाचार्यके तीन रत्न

•

## व्यावहारिक दृष्टि-बिन्दु

### १. प्रास्ताविक

**मंगलाचरण** – ध्रुव और अनुपम मोक्षगतिको प्राप्त सब सिद्धोंको मैं नमस्कार करता हूँ और उनके उपदेशके अनुसार इस आत्मशास्त्रकी रचना करता हूँ। ( स० १ )

कामभोगसम्बन्धी बातें सभीने सुनी हैं, बार-बार सुनी हैं। सबके परिचयमें आयी हैं और सभीने उनका अनुभव किया है। राग-द्वेषसे रहित शुद्ध आत्मस्वरूपकी कथा दुर्लभ रही है। मेरे पास जो कुछ ज्ञानवैभव है, उसके अनुसार उस आत्मस्वरूपका वर्णन करता हूँ। ( स० ४–५ )।

**शास्त्रज्ञानकी आवश्यकता** – जबतक पदार्थोंका निश्चय न हो, कोई पुरुष एकाग्र ( व्यवसायात्मक ) होकर श्रेयस्‌की उपलब्धि नहीं कर सकता। पदार्थोंका निश्चय शास्त्रके बिना सम्भव नहीं है। अतएव सबसे पहले शास्त्रज्ञान प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिए। शास्त्रज्ञानहीन पुरुष स्व-परका – आत्मा-अनात्मा का – स्वरूप नहीं समझ सकता और जबतक स्व-परका विवेक नहीं हुआ तबतक वह कर्मोंका नाश कैसे कर सकता है ? ( प्र० ३, ३२–३ )

आत्मासे भिन्न पदार्थोंमें जीवका जो मूढ़भाव है, वह मोह कहलाता है। जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा न समझना, अथवा उलटा समझना, अन्य प्राणियोंके प्रति करुणा न होना, और आसक्ति, यह सब मोहके लक्षण हैं। मोहयुक्त जीव, अन्य पदार्थोंमें राग-द्वेष करके क्षुब्ध होता है और कर्मबन्धनसे बद्ध होता है। इसके विपरीत, जिनशास्त्रके अध्ययनसे अथवा

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेवाला मनुष्य, निश्चित रूपसे मोहका क्षय करता है। जो मनुष्य आत्माका तथा आत्मासे भिन्न अन्य पदार्थोंका भेद-विज्ञान प्राप्त करता है, वह मोहका क्षय करनेमें समर्थ होता है ( प्र० १, ८९ – ६ )

अन्य भूतप्राणियोंकी चक्षु, इन्द्रियाँ हैं और साधक पुरुषकी चक्षु शास्त्र है। विविध गुणों और पर्यायोंसहित समस्त पदार्थोंका ज्ञान शास्त्रमें विद्यमान है। जिसका पदार्थविषयक श्रद्धान या ज्ञान, शास्त्रपूर्वक नहीं है, वह सच्ची साधना ( संयम ) का अधिकारी नहीं है – उसकी साधना सच्ची नहीं हो सकती। और जिसकी साधना ही सच्ची नहीं वह मोक्ष-मार्गी ( श्रमण ) कैसे हो सकता है? ( प्र० स० ३४ – ६ )

अतएव चार गतियों – देव, मनुष्य, तिर्यंच, नारकभावसे छुटकारा दिलाकर निर्वाणपदपर पहुँचानेवाले और सर्वज्ञ महामुनियोंके मुखसे प्रकट हुए शास्त्रको नमस्कार करके, ( तदनुसार ) मैं जो कहता हूँ, श्रवण करो ( प० २ )।

## २. द्रव्य-विचार

छह द्रव्य – यह समग्र लोक जीव, [1]पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, इन छह द्रव्योंका हो समूह है। ये द्रव्य सत् हैं। किसीने इन्हें बनाया नहीं है। ये स्वभावसिद्ध हैं, अनादिनिधन हैं त्रिलोकके कारण भूत हैं। एक द्रव्य, दूसरे द्रव्यमें मिल नहीं सकता – सभी अपने-अपने स्वभावमें स्थिर रहते हैं किन्तु परस्पर एक-दूसरेको अवकाश देते हैं। लोकसे बाहर केवल शुद्ध आकाश ( अलोकाकाश है )। ( पं० ३–४, ७, प्र० २,६ )

---

१. अन्य दर्शनोंमें जिस जड़ द्रव्यका प्रकृति और परमाणु आदि शब्दोंसे निर्देश किया गया है जैन परिभाषामें उसे पुद्गल कहते हैं। बौद्धग्रन्थोंमें पुद्गल शब्दका प्रयोग जीव या मनुष्य व्यक्तिके अर्थमें भी देखा जाता है।

**सत्‌की व्याख्या** – किसी भी पदार्थको सत् कहनेका अर्थ यह है कि वह उत्पत्ति व्यय और ध्रौव्यरूप है। सत्ता – अस्तित्वका अर्थ ही उत्पादन-व्यय-ध्रौव्यात्मक होता है ( पं० ८ ) इसका आशय यह हुआ कि पूर्वोक्त छह द्रव्योंमें कोई भी द्रव्य एकान्त अपरिणामी या कूटस्थ नित्य नहीं है, और न एकान्त क्षणिक ही है, किन्तु परिणामी-नित्य है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि वस्तुके मौजूदा परिणाम ( पर्याय-अवस्था ) नष्ट हो जाते हैं, नये परिणाम उत्पन्न होते हैं, फिर भी वस्तु अपने मूल रूपमें कायम रहती है। उदाहरणार्थ – सोनेका कुण्डल मिटता है और कड़ा बनता है। यहाँ कुण्डल-पर्यायका नाश हुआ है और कड़ा-पर्यायकी उत्पत्ति हुई है, फिर भी – एक रूपके नाश होनेपर और दूसरा रूप उत्पन्न होनेपर भी – सुवर्ण ज्योंका त्यों विद्यमान है। यहाँ ज्ञातव्य है कि द्रव्यका उत्पाद या विनाश नहीं होता, परन्तु अपनी पर्यायोंकी दृष्टिसे वह उत्पत्ति और विनाशसे युक्त बनता है ( क्योंकि पर्याय द्रव्यसे एकान्ततः भिन्न नहीं हैं, वह द्रव्यके ही विभिन्न रूप हैं )। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि अपने त्रैकालिक विविध भावोंके रूपमें परिणत होते रहनेपर भी द्रव्य स्वयं नित्य रहता है। इस प्रकार द्रव्य एक ही समयमें उत्पत्ति, विनाश और स्थिति रूप भावोंसे समवेत रहता है। हाँ, उत्पति, स्थिति और नाश पर्यायोंमें रहते हैं, मगर वे पर्याय द्रव्यके ही हैं, अतएव द्रव्य ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप होता है। ( पं० ११, ६, प्र० २, ८-९, १२ )

**द्रव्यकी व्याख्या** – अमुक पदार्थ द्रव्य है, इस प्रकार कहनेका अर्थ यह है कि वह अपने विविध परिणामोंके रूपमें द्रवित होता है। अर्थात् अमुक-अमुक पर्याय प्राप्त करता है। ( पं० ९ ) बिना पर्यायका द्रव्य नहीं हो सकता और बिना द्रव्यका पर्याय होना सम्भव नहीं है। द्रव्य गुणात्मक है और उसके विविध रूपान्तर ही उसके पर्याय कहलाते हैं ( प्र० २, १ ) इसी प्रकार न द्रव्यके बिना गुण रह सकते हैं, न गुणोंके बिना द्रव्य ही रह सकता है। (पं० १२-३) संक्षेपमें जो गुण और पर्यायसे युक्त है और अपने

स्वभावका परित्याग न करता हुआ उत्पत्ति, विनाश एवं ध्रुवत्वसे युक्त है, वह द्रव्य कहलाता है। अपने गुणोंके साथ, पर्यायोंके साथ तथा उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्यके साथ जो अस्तित्व है वही द्रव्यकी सत्ता अथवा द्रव्यका स्वभाव है। ( प्र० २, ३-४ )

गुण और पर्याय – यहाँ यह समझने योग्य बात है कि द्रव्य, गुण और पर्यायमें परस्पर अन्यत्व तो है, मगर पृथक्त्व नहीं है। वस्तुओंमें आपसमें जो भेद पाया जाता है, उसे वीर भगवान्ने दो प्रकारका निरूपण किया है – ( १ ) पृथक्त्वरूप और ( २ ) अन्यत्वरूप। प्रदेशोंकी भिन्नता पृथक्त्व है और तद्रूपता न होना अन्यत्व है। जैसे – दूध और दूधकी सफेदी एक ही चीज नहीं है, फिर भी दोनोंके प्रदेश पृथक्-पृथक् नहीं हैं। इसके विरुद्ध दण्ड और दण्डीमें पृथक्त्व है – इन दोनोंको अलग किया जा सकता है। द्रव्य, गुण और पर्यायमें ऐसा पृथक्त्व नहीं है, ( प्र० २, १४, १६ ) क्योंकि द्रव्यके बिना गुण या पर्याय नहीं हो सकते। द्रव्य जिन-जिन पर्यायोंको धारण करता है, उन-उन पर्यायोंके रूपमें वह स्वयं ही उत्पन्न होता है। जैसे – सोना स्वयं ही कुण्डल बनता है, स्वयं ही कड़ा बनता है, स्वयं ही अंगूठीके रूपमें बदल जाता है। पर्यायोंकी दृष्टिसे देखिए तो नये-नये पर्याय उत्पन्न होते हैं, जो पहले नहीं थे, परन्तु द्रव्यकी अपेक्षासे देखा जाये तो वह ज्योंका त्यों विद्यमान है। जीव देव होता है, मनुष्य होता है, पशु होता है, लेकिन इन सब पर्यायोंमें उसका अपना जीवत्व नहीं बदलता – जीवरूपसे वह ज्योंका त्यों है। मगर यह भी सत्य है कि जीव जब मनुष्य होता है तब देव नहीं रहता और जब देव होता है तो सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार द्रव्यार्थिक नय[1]की अपेक्षासे सब पर्याय एक द्रव्यरूप ही हैं।

---

१. अनेक धर्मात्मक वस्तुके किसी एक धर्मको ग्रहण करनेवाला ज्ञान 'नय' कहलाता है। नय अर्थात् वस्त्वंशको ग्रहण करनेवाली एक दृष्टि। संक्षेपमें इसके दो भेद हैं – एक द्रव्यार्थिक और दूसरा पर्यायार्थिक। जगत्की प्रत्येक

किन्तु पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे, जिस समय जो पर्याय होता है उस समय द्रव्य उससे अभिन्न होनेके कारण और चूँकि पर्याय अनेक हैं इसलिए द्रव्य भी अनेक रूप हैं। इस प्रकार विभिन्न पर्यायोंकी अपेक्षा एक ही द्रव्यमें 'है' (स्यादस्ति), 'नहीं है' (स्यान्नास्ति), 'है – नहीं है' (स्यादस्ति स्यान्नास्ति), 'अवक्तव्य' है, (स्यादवक्तव्य) आदि सप्तभंगी[1] का प्रयोग किया जा सकता है। हाँ, सत् पदार्थका कभी नाश नहीं हो सकता और असत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती। गुण-पर्यायकी दृष्टिसे ही द्रव्यमें उत्पत्ति और विनाशका व्यवहार होता है। (प्र० २, १८-२३; पं० ११-२१)

---

वस्तु एक-दूसरेसे न तो बिलकुल समान ही है और न अ-समान ही। उसमें सदृश और विसदृश दोनों ही अंश पाये जाते हैं। जब बुद्धि सिर्फ सामान्य अंशकी ओर झुकती है तब उस अंशको ग्रहण करनेवाला ज्ञाताका अभिप्राय द्रव्यार्थिक नय कहलाता है और जब बुद्धि भेद या अंशकी ओर झुकती है तब उसको ग्रहण करनेवाला ज्ञाताका अभिप्राय पर्यायार्थिक नय कहलाता है। जब आत्माके काल, देश या अवस्थाकृत भेदोंकी ओर दृष्टि न देकर मात्र शुद्ध चैतन्यकी ओर ध्यान दिया जाता है तब वह द्रव्यार्थिक नयका विषय होता है तथा जब उसकी अवस्थाओंकी ओर ही दृष्टि जाती है तब वह पर्यायार्थिक नयका विषय होता है।

१. प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मयुक्त है। उसका शब्दोंसे निरूपण करना सम्भव नहीं। अतः अमुक दृष्टिसे वस्तु स्यात् – कथंचित् या अमुक निश्चित धर्मवाली है, इसी प्रकारका कथन सम्भव हो सकता है। जिस प्रकार वस्तु अपने स्वरूपसे स्यादस्ति – सद्भावात्मक है उसी प्रकार परस्वरूपकी अपेक्षा वह स्यान्नास्ति – कथंचित् अभावात्मक भी है। जब इन दोनों धर्मोंको क्रमसे कहनेका प्रयास किया जाता है तो वस्तु स्यादस्ति नास्ति – कथंचित् सत् और कथञ्चित् असत् रूप है। जब इन दोनों धर्मोंको एक साथ कहनेकी चेष्टा की जाती है तो शब्दोंकी असामर्थ्यके कारण वस्तु स्यात् अवक्तव्य है। ऊपरके तीन भंगोंका – क्रमशः अवक्तव्यके साथ सम्बन्ध करनेपर स्यादस्ति अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य और स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य ये तीन भंग और बन जाते हैं।

**अस्तिकाय** – पूर्वोक्त छह द्रव्योंमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश, यह पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं। जो पदार्थ गुण-पर्यायसे युक्त होता हुआ अस्तित्व स्वभाववाला ( उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय ) हो और अनेक-प्रदेशी हो वह अस्तिकाय[1] कहलाता है ( पं० ४-५ )

**द्रव्योंका विविध वर्गीकरण** – द्रव्यके मुख्य प्रकार दो हैं – जीव और अजीव। जीवद्रव्य चेतन हैं और बोधव्यापारमय हैं। पुद्गल आदि शेष अजीवद्रव्य अचेतन हैं। ( प्र० २, ३५ )

मूर्त और अमूर्तके भेदसे द्रव्योंके दो भेद किये जा सकते हैं। जिन लक्षणों – चिह्नोंसे द्रव्य जाना जा सकता है, वह चिह्न उस द्रव्यके गुण कहलाते हैं। जो द्रव्य अमूर्त है, उसके गुण भी अमूर्त हैं, और जो द्रव्य मूर्त है उसके गुण भी मूर्त होते हैं। जो गुण इन्द्रियों-द्वारा ग्रहण किये जा सकें वह मूर्त गुण कहलाते हैं। सिर्फ पुद्गलद्रव्यके ही गुण मूर्त हैं। परमाणुसे लेकर पृथ्वी तक पुद्गलद्रव्यमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श – यह चार गुण पाये जाते हैं। शब्द, पुद्गलका परिणाम – पर्याय है, [2]गुण नहीं है। ( प्र० २, ३८-४० )

---

१. जिसका दूसरा विभाग न हो सके ऐसे आकाशके अंशको प्रदेश कहते हैं। जो द्रव्य ऐसे अनेक प्रदेशोंवाला है उसे अस्तिकाय कहते हैं।

२. गुण उसे कहते हैं जिसका सद्भाव द्रव्यमें हमेशा पाया जाये। शब्द पुद्गल-पर्याय है, गुण रूप नहीं। जब दो पुद्गलस्कन्ध आपसमें टकराते हैं तब शब्द उत्पन्न होता है। इसलिए वह पुद्गलका ही पर्याय है गुण नहीं। अन्य दार्शनिक शब्दको आकाशका गुण मानते हैं परन्तु जिन चीजोंमें परस्पर विरोध हो वे गुण-गुणी रूप नहीं हो सकते। आकाश, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श-से रहित अमूर्तिक पदार्थ है किन्तु शब्द, कण्ठ, तालु आदिसे उत्पन्न होता है तथा पैदा होते समय ढोल झालर आदिको कँपाता है, इसलिए वह मूर्तिक है। वह मूर्तिक कानको बहरा कर सकता है, मूर्तिक दीवाल आदिसे वापस

अमूर्त द्रव्योंके गुण संक्षेपमें इस प्रकार हैं : आकाशद्रव्यका गुण अवगाह—अन्य द्रव्योंको जगह देना है। धर्मद्रव्यका गुण गति-हेतुत्व—गतिमान् द्रव्योंकी गतिमें निमित्त होना है। अधर्म द्रव्यका गुण स्थिति-हेतुत्व—स्थितिरूप परिणत द्रव्योंकी स्थितिमें निमित्त होना है। कालद्रव्यका गुण वर्तना[1]—अपने-आप वर्तने, अपनी सत्ताका अनुभव करनेमें निमित्त होना है। आत्माका गुण उपयोग—बोधरूप व्यापार—चेतना है। ( प्र० २, ४१-२ )

आकाशद्रव्य लोक और अलोकमें सर्वत्र व्याप्त है। धर्म और अधर्मद्रव्य लोकमें रहते हैं। जीव और पुद्गलके आधारसे[2] कालद्रव्य भी समस्त लोकमें विद्यमान है। आकाशके प्रदेशोंकी भाँति धर्म, अधर्म और जीव द्रव्यके भी प्रदेश होते हैं। परमाणुमें प्रदेश नहीं होते, वरन् परमाणुके आधारपर ही आकाश आदिके प्रदेश निश्चित किये जाते हैं। एक परमाणु जितने आकाशको घेरता है, आकाशका उतना भाग प्रदेश कहलाता है। यह एक प्रदेश अन्य समस्त द्रव्योंके अणुओंको अवकाश दे रहा है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच द्रव्य[3] असंख्य प्रदेशवाले हैं।

---

आता है। प्रकाशकी तरह जहाँ-तहाँ जा सकता है। वायुके प्रवाहमें बह सकता है, तीव्र शब्दके द्वारा दब सकता है इत्यादि कारणोंसे शब्द मूर्तिक है अतः वह आकाशका गुण नहीं हो सकता।

१. अपनी-अपनी पर्यायोंकी उत्पत्तिमें स्वयं प्रवर्तमान द्रव्योंमें निमित्त रूप होना वर्तना है।

२. कालद्रव्यको जीव पुद्गलके आधारसे रहनेवाला कहनेका अर्थ यह है कि कालद्रव्यके समय, घड़ी, घण्टा आदि परिणमन जीव और पुद्गलके पर्यायों-द्वारा ही प्रकट होते हैं।

३. इतनी विशेषता है कि आकाश अनन्त प्रदेशवाला है। एक जीव, धर्म और अधर्मके असंख्यात प्रदेश हैं। पुद्गल द्रव्य परमाणुरूपमें यद्यपि एकप्रदेशी है तो भी उसमें दूसरोंके मिलनेकी शक्ति होनेके कारण अनन्त प्रदेशात्मकता सम्भव है।

काल द्रव्य अणुरूप है इसलिए उसके अनेक प्रदेश नहीं होते। ( कालके अणु पुद्गल आदिके अणुओंकी तरह आपसमें एकमेक नहीं हैं, किन्तु रत्नोंकी राशिके समान एक-दूसरेसे जुदा-जुदा हैं। ) अतएव काल एक ही प्रदेशवाला है। जिसमें प्रदेश न हो या जो एक प्रदेशरूप भी न हो उसे शून्य, अस्तित्वरहित, अवस्तुभूत समझना चाहिए (प्र० २,४३,५,४८,५२)।

छह द्रव्योंमें-से पुद्गल और जीवके उत्पाद, स्थिति और भंग रूप परिणमन उनके मिलने और बिछुड़नेसे होते हैं ( प्र० २, ३७ ) दूसरे शब्दोंमें जीव और पुद्गलद्रव्य सक्रिय हैं, शेष[1] निष्क्रिय हैं। [2]जीवकी क्रियामें पुद्गल निमित्त है। पुद्गलकी क्रियामें काल निमित्त है। ( पं० ९८ )

## छह द्रव्योंका विशेष विचार

१. आकाश—समस्त जीवोंको, धर्मद्रव्यको, अधर्मद्रव्यको, कालको और पुद्गलोंको लोकमें पूर्ण अवकाश देनेवाला द्रव्य आकाश कहलाता है। आकाशके जिस भागमें जीव आदि सब द्रव्य समाये हुए हैं, उसे लोक कहते हैं। लोकके बाहर अनन्त आकाश है। आकाशको अवकाश देनेके अतिरिक्त गति और स्थितिका भी कारण माना जाय तो अनेक जैन सिद्धान्तोंसे विरोध आता है। यथा मुक्तजीव, मुक्त होते ही उर्ध्वगति करके लोकके शिखर तक गमन करता है और वहाँ पहुँचकर रुक जाता

---

१. शेष द्रव्य भावशील है। क्रिया अर्थात् हलन-चलन, परिस्पन्द, भाव अर्थात् परिणमन। परिणमन रूप भावकी दृष्टिसे तो सभी द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त हैं किन्तु जीव और पुद्गल क्रियावान् भी हैं तथा भाववान् भी हैं।

२. जबतक कर्मरूपी पुद्गलके साथ जीवका सम्बन्ध है तभीतक वह मूर्त-जैसा बनकर सारी क्रियाएँ करता है। जब कर्मका सम्बन्ध छूट जाता है तब वह निष्क्रिय हो जाता है।

है। अगर आकाश गमन-क्रियाका भी कारण हो तो लोकके बाहर अलोकमें भी मुक्त जीवका गमन होना चाहिए, क्योंकि आकाश वहाँ भी मौजूद है। परन्तु सिद्ध जीव लोकके बाहर गमन नहीं करता। इसका कारण यह है कि गति और स्थितिमें सहायक होनेवाले धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यका लोकके बाहर अभाव है। 'इसके[1] अतिरिक्त, पदार्थोंकी गति और स्थिति मर्यादित लोक-क्षेत्रमें होती है, इसी कारण जगत् सुव्यवस्थित मालूम होता है अगर अनन्त पुद्गल और अनन्त जीवव्यक्ति, असीम परिमाणवाले विस्तृत आकाश क्षेत्रमें, बिना किसी रुकावटके संचार करें तो इतने पृथक् हो जायेंगे कि उनका फिरसे मिलना और नियत सृष्टिके रूपमें दिखलाई पड़ना असम्भव नहीं तो कठिन तो अवश्य ही हो जायेगा।' इस प्रकार आकाशको गति और स्थितिका कारण माननेसे लोक-मर्यादाका भंग प्राप्त होता है और अलोक नामकी वस्तु ही नहीं रह जाती। अतएव आकाशसे भिन्न धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यको ही गति और स्थितिमें निमित्त मानना उचित है। धर्म, अधर्म और लोकाकाश समान क्षेत्रमें स्थित हैं। उनका परिमाण भी समान है, फिर भी वास्तवमें वे भिन्न-भिन्न हैं।

२. धर्म – धर्मद्रव्य रसरहित, वर्णरहित, गन्धरहित और स्पर्शरहित है। यह सम्पूर्ण लोकाकाशमें व्याप्त है। अखण्ड है, स्वभावसे ही विस्तृत है और ( पारमार्थिक दृष्टिसे अखण्ड एक द्रव्य होनेपर भी व्यावहारिक दृष्टिसे ) असंख्य प्रदेशयुक्त है। वह ( क्रियाशील नहीं है, किन्तु भावशील अर्थात् परिणमनशील है ) अगुरुलघु ( अमूर्त ) अनन्त पर्यायोंके रूपमें सतत परिणमन करता रहता है। वह किसीका कार्य नहीं है। गतिक्रियायुक्त जीव और पुद्गल द्रव्योंकी गतिक्रियामें निमित्तकारण है।

जैसे पानी मछलीकी गमनक्रियामें अनुग्रह करता है, उसी प्रकार धर्मद्रव्य जीव और पुद्गलकी गतिमें निमित्त होता है; धर्मद्रव्य स्वयं

---

१. इनवर्टेड कॉमाके अन्दरका पाठ मूलमें नहीं है।

गतिक्रियासे रहित है और दूसरे द्रव्योंको भी गति नहीं कराता। मछलीकी भाँति सभी गतिशील द्रव्य अपनी-अपनी गतिमें आप ही उपादान कारण हैं, परन्तु जैसे पानीके अभावमें मछलीकी गति होना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार गतिशील द्रव्यकी गति, धर्मद्रव्यके बिना शक्य नहीं है।

३. अधर्म – अधर्मद्रव्य, धर्मद्रव्यके समान ही है। विशेषता यह है कि धर्मद्रव्य गति-सहायक है, जब कि अधर्मद्रव्य, गतिक्रियापरिणत जीव और पुद्गल द्रव्योंकी स्थितिमें सहायक होता है। जिन द्रव्योंमें गतिक्रिया हो सकती है उन्हींमें स्थितिक्रिया भी हो सकती है।

इन दोनों – धर्म और अधर्म – द्रव्योंके होने और न होनेके कारण ही आकाशके लोक और अलोक विभाग हुए हैं। जहाँ धर्म-अधर्मद्रव्य हैं वह लोक और जहाँ यह दोनों मौजूद नहीं हैं वह अलोक कहलाता है। गति और स्थिति इन्हीं दोनोंकी सहायतासे होती है। दोनों एक-दूसरेसे भिन्न हैं, लेकिन एक ही क्षेत्रमें रहनेके कारण अविभक्त भी हैं (पं० ८३-९)

४. काल – कालद्रव्यमें पाँच वर्ण, पाँच रस या सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध नहीं है। आठ प्रकारके स्पर्शोंमें-से कोई स्पर्श भी नहीं है। काल अगुरुलघु ( अमूर्त्त ) है। अन्य द्रव्योंको परिणमाना – परिणमनमें निमित्त होना उसका लक्षण है। जैसे कुम्हारके चाकके नीचेकी कील चाककी गतिमें सहायक होती है, मगर गतिमें कारण नहीं है, इसी प्रकार कालद्रव्य, अन्य द्रव्योंके परिणमनमें निमित्त रूप है, कारण नहीं।[1]

व्यवहारमें समय, निमिष, काष्ठा ( १५ निमिष ), कला (२० काष्ठा), नाली ( घड़ी = बीस कलासे कुछ अधिक ), दिवस, रात, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर आदि कालके विभागोंकी कल्पना अन्य द्रव्योंके ( आँखोंका निमेष या सूर्यकी गति आदिके ) परिमाणसे की जाती है, इसलिए यह सब विभाग पराधीन हैं। बिना किसी नाप-परिमाणके 'जल्दी' 'देर'

---

१. यह उदाहरण मूलका नहीं है।

आदिका विभाग नहीं किया जा सकता। यह नाप पुद्गलद्रव्योंके परिवर्तनसे नापा जाता है, इसीलिए काल पराधीन कहलाता है। (पं० २३-६ )

व्यावहारिक काल-गणना यद्यपि जीव और पुद्गलके परिणमनपर ही आधार रखती है, परन्तु कालद्रव्य स्वयं, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जीव और पुद्गलके परिणमनमें कारणभूत है। व्यवहार-काल क्षण-भंगुर है और कालद्रव्य अविनाशी है ( पं० १०० )

काल द्रव्य प्रदेशरहित है अर्थात् एक-एक प्रदेशरूप है। पुद्गलका एक परमाणु आकाशके एक प्रदेशको लाँघकर दूसरे प्रदेशमें जाता है, तब कालाणुका समय रूप पर्याय प्रकट होता है। यह समय-पर्याय उत्पन्न होता है और नष्ट भी होता है, पर उससे पहले और उसके पश्चात् भी जो द्रव्य कायम रहता है, वह काल द्रव्य है[1]। ( प्र० २, ४३, ४७, ४९ )

**५. पुद्गल** – पुद्गलद्रव्य चार प्रकारका है – स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और परमाणु। पुद्गलका सम्पूर्ण पिण्ड स्कन्ध कहलाता है। स्कन्धका आधा भाग स्कन्धदेश, स्कन्धदेशका आधा भाग स्कन्धप्रदेश और जिसका दूसरा भाग न हो सके, ऐसा निरंश अंश परमाणु कहलाता है। ( पं० ७४-५ )

---

१. जिन द्रव्योंके बहुत प्रदेश अर्थात् विस्तार होता है उन्हें तिर्यक्प्रचयवाला कहते हैं। प्रदेशोंके समूहका नाम तिर्यक्प्रचय है। प्रदेशोंमें विस्तार देशकी अपेक्षा है। किन्तु ऊर्ध्वप्रचय अर्थात् कालमें क्रमसे व्याप्त होना, क्रम-परम्परा है। इसमें देशकी अपेक्षा नहीं, किन्तु कालिक क्रमकी अपेक्षा है। कालके अतिरिक्त द्रव्य बहुप्रदेशी होनेसे देशमें विस्तृत है तथा क्रमिककाल-में भी विस्तृत है पर कालद्रव्य स्वयं देशव्यापी नहीं है वह क्रमिक समय परम्पराओंमें व्याप्त है। अन्य द्रव्योंके ऊर्ध्व प्रचयमें भी निमित्त कारण काल होता है, उपादान कारण नहीं। अपने ऊर्ध्व प्रचयमें काल निमित्त भी है तथा उपादान भी।

स्कन्ध दो प्रकारके होते हैं – बादर और सूक्ष्म। बादर स्कन्ध वह है जो इन्द्रियोंका गोचर हो सके। जो स्कन्ध इन्द्रियगम्य नहीं है वह सूक्ष्म स्कन्ध है। दोनों प्रकारके स्कन्ध, व्यवहारमें पुद्गल कहलाते हैं। इन दोनोंके सब मिलाकर छह वर्ग होते हैं जिनसे त्रैलोक्यकी रचना हुई है। वह छह वर्ग इस प्रकार हैं—

१. बादर-बादर – जो एक बार टूटनेके पश्चात् जुड़ न सके, जैसे लकड़ी, पत्थर आदि-आदि।

२. बादर – टूटकर अलग होनेके पश्चात् जुड़ जानेवाला, जैसे प्रवाही पुद्गल।

३. सूक्ष्म-बादर – जो देखनेमें स्थूल हो मगर तोड़ा-फोड़ा न जा सके या जो पकड़में न आ सके, जैसे धूप, प्रकाश आदि।

४. बादर-सूक्ष्म – सूक्ष्म होते हुए भी जो इन्द्रियगम्य हो, जैसे रस, गन्ध, स्पर्श आदि।

५. सूक्ष्म – जो पुद्गल इतना सूक्ष्म हो कि इन्द्रियों-द्वारा, ग्रहण न किया जा सके, जैसे कर्मवर्गणा[1] आदि।

६. सूक्ष्मसूक्ष्म – अति सूक्ष्म, जैसे कर्मवर्गणासे नीचेके द्व्यणुक पर्यन्त पुद्गल स्कन्ध।

**परमाणु** – स्कन्धोंका अन्तिम विभाग – जिसका विभाग न हो सके – परमाणु कहलता है। परमाणु शाश्वत है। शब्दरहित है। एक है। रूप, रस, स्पर्श और गन्ध उसमें पाया जाता है, इसलिए वह मूर्त है। परमाणुके गुण कहनेमें ही अलग-अलग हैं, परन्तु परमाणुमें उनका प्रदेश-भेद नहीं है – सभी गुण एक ही प्रदेशमें रहते हैं। परमाणु पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, इन चार धातुओंका कारण है (अर्थात् पृथ्वी आदिके

---

१. कर्म अर्थात् सूक्ष्म रज। कर्मबन्धनमें इसी कर्मवर्गणा अर्थात् सूक्ष्म रजका सम्बन्ध होता है।

परमाणु मूलतः भिन्न-भिन्न नहीं हैं जैसा कि अन्य दर्शन मानते हैं ) और वह परिणमनशील है ।

परमाणु शब्द-रहित है, क्योंकि दो स्कन्धोंके संघर्षसे शब्दकी उत्पत्ति होती है । परमाणुओंका समूह स्कन्ध कहलाता है । शब्दके दो भेद हैं – ( १ ) प्रायोगिक[1] अर्थात् पुरुष आदिके प्रयत्नसे उत्पन्न होनेवाला और ( २ ) नियत अर्थात् स्वाभाविक – मेघ आदिसे होनेवाला । (पं० ७७-९)

परमाणु नित्य है । वह अपने एक प्रदेशमें स्पर्श आदि चारों गुणोंको अवकाश देनेमें समर्थ होनेके कारण सावकाश भी है । किन्तु उसके एक प्रदेशमें दूसरे प्रदेशका समावेश नहीं हो सकता, अतएव वह निरवकाश भी है । स्कन्धोंका भेद रखनेवाला और उन्हें बनानेवाला परमाणु ही है ।

पुद्गलद्रव्य स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाला है । जहाँ स्पर्श है वहाँ रस, गन्ध और वर्ण भी अवश्य होते हैं । स्पर्श आठ प्रकारके हैं – ( १ ) मृदु ( नरम ), ( २ ) खुरदरा, ( ३ ) भारी, ( ४ ) हलका, ( ५ ) ठण्डा, ( ६ ) गर्म, ( ७ ) चिकना और ( ८ ) रूखा । इन आठमें-से चिकना, रूखा, ठण्डा और गर्म, यह चार ही स्पर्श परमाणुमें हो सकते है । स्कन्धमें आठों स्पर्श पाये जा सकते हैं । रस पाँच हैं – कटुक, तीक्ष्ण, कषाय, अम्ल, मधुर ( मीठा ) । खारा रस, मधुर-रसके अन्तर्गत माना गया है या अनेक रसोंके सम्मिश्रणसे उत्पन्न होनेवाला है । गन्ध दो प्रकार-का है–सुगन्ध और दुर्गन्ध । वर्ण पाँच हैं—काला, नीला, पीला, सफेद और लाल ।[2]

परमाणुमें एक रस, एक वर्ण, एक गन्ध और दो स्पर्श होते हैं ।

---

१. प्रायोगिकके दो भेद हैं – भाषात्मक और अभाषात्मक । भाषात्मक अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक ( पशुपक्षीकी बोली ) के भेद दो प्रकारके हैं । अभाषात्मकके चार भेद हैं – तत, वितत, घन और सुषिर ( बाजों की आवाज । )

२. यह पैराग्राफ मूलमें नहीं है ।

( अर्थात् चिकना और उष्ण, या चिकना और शीत अथवा सूखा और शीत )। ( पं० ८१ )। इन परमाणुओंमें-से चिकना परमाणु और रूखा परमाणु मिलकर द्व्यणुक बनता है और इसी प्रकार त्र्यणुक आदि स्कन्ध बन जाते हैं। परमाणुओंकी स्निग्धता और रूक्षता परिणमनको प्राप्त होती हुई एक अंशसे अनन्त अंशोंवाली तक बन जाती है। इसमें-से दो, चार, छह आदि सम प्रमाणवाली या तीन, पाँच, सात आदि विषम प्रमाण-वाली स्निग्धता या रूक्षतावाले अणु स्निग्धता या रूक्षतामें दो अंश अधिक परमाणुओंके साथ आपसमें मिल जाते हैं; परन्तु एक अंश स्निग्धता या रूक्षतावाले, दूसरेके साथ नहीं मिल सकते। उदाहरणार्थ—दो अंश स्निग्धतावाला अणु चार अंश स्निग्धतावाले दूसरे अणुके साथ मिल सकता है। इसी प्रकार तीन अंश रूक्षतावाला अणु पाँच अंश रूक्षतावाले अणुके साथ मिल सकता है। इस प्रकार दो आदि प्रदेशवाले पुद्गल स्कन्ध विविध परिणमनके अनुसार सूक्ष्म या स्थूल तथा भिन्न-भिन्न प्रकारकी आकृतिवाले पृथ्वी, जल, तेज या वायुके रूपमें पलट जाते हैं। ( प्र० २, ७१-५ )

परमाणुसे कालके परिभाषाका ज्ञान होता है ( क्योंकि परमाणुको आकाशके एक प्रदेशसे दूसरेमें जानेमें जितना काल लगता है, वह कालांश, समय कहलाता है ) परमाणु द्रव्य आदिकी संख्या-गणनाका भी कारण है ( क्योंकि स्कन्ध, परमाणुओंसे बनता है, अतएव परमाणुओंकी संख्याके आधारपर ही द्रव्यकी संख्या जानी जा सकती है )। क्षेत्रका परिमाण भी परमाणुसे नापा जाता है, क्योंकि वह आकाशके एक ही प्रदेशमें रहता है। इसी प्रकार परमाणुमें रहनेवाले वर्ण आदिसे भाव-संख्याका भी बोध होता है ( पं० ८० )

परमाणु स्कन्धके रूपमें परिणत होनेपर भी स्कन्धसे भिन्न है। इन्द्रियभोग्य पदार्थ, इन्द्रियाँ, पाँच शरीर, मन, कर्म तथा अन्य पदार्थ जो मूर्त्त हैं, सभी पुद्गलरूप हैं ( पं० ८२ )

६. **जीव**—जीव दो प्रकारके हैं–संसारी और मुक्त। दोनों ही प्रकारके जीव अनन्त हैं। वे चेतनात्मक हैं और उपयोग—बोध व्यापाररूप परिणामवाले हैं। संसारी जीव सदेह हैं और मुक्त जीव अदेह हैं। ( संसारमें ) जो बल, इन्द्रिय, आयुष्य और उच्छ्वास इन चार प्राणोंसे जीवित है, जीवित रहेगा और जीवित था, वह जीव है। जिनका प्राणधारण सर्वथा रह गया है, जिनमें उक्त चार प्राणोंका अभाव है और जो देहसे सर्वथा मुक्त हो गये हैं, वे सिद्ध जीव कहलाते हैं। वाणी-द्वारा उनका वर्णन करना शक्य नहीं है। ( पं० १०७, ३०, ३५ )

जीव असंख्यात प्रदेशमय है और समस्त लोकको व्याप्त करके भी रह सकता है, परन्तु सभी जीवोंको इतना विस्तार नहीं प्राप्त होता। पद्मराग मणिको दूधमें डाल दिया जाय तो दूधके परिमाणके प्रमाणमें उसका प्रकाश होता है; इसी प्रकार जीवात्मा जिस देहमें रहता है उसीके अनुसार प्रकाशक होता है। जैसे एक शरीरमें आरम्भसे अन्त तक एक ही जीव रहता है, उसी प्रकार सर्वत्र सांसारिक अवस्थाओंमे एक वही जीव रहता है। यद्यपि जीव अपने गृहीत शरीरसे अभिन्न-सा दिखाई देता है, पर वास्तवमें देह और जीव भिन्न-भिन्न हैं, बात सिर्फ यह है कि अपने अशुद्ध अध्यवसायोंके कारण कर्म-रजसे मलीन बनकर, जीव अपने-आपको शरीरसे अभिन्न मानकर बरतता है। ( पं० ३१-४ )

**चेतनागुण और चेतनाव्यापार**—जीवका चेतनागुण तीन प्रकार-का है–(१) स्थावर काय जैसे कतिपय जीव कर्मके फलका ही अनुभव करते हैं, उनकी चेतना 'कर्मफल चेतना' कहलाती है। ( २ ) त्रस जीव कर्म भी कर सकते हैं, उनकी चेतना 'कर्मचेतना' कहलाती है। ( ३ ) प्राणोपन अर्थात् सदेह अवस्थाके परे पहुँचे हुए सिद्ध जीव शुद्ध ज्ञानचेतना-का ही अनुभव करते हैं। ( पं० ३९ )

जीवका चेतनाव्यापार ज्ञान और दर्शनके भेदसे दो प्रकारका है। वस्तुको विशेष रूपसे जाननेवाला व्यापार ज्ञान कहलाता है और सामान्य

रूपसे जाननेवाले व्यापारको दर्शन कहते हैं।

**द्रव्य और गुणकी अभिन्नता**—चेतनागुण जीवसे सदा-सर्वदा अभिन्न है। ज्ञानीसे ज्ञानगुण भिन्न नहीं है, वस्तुतः दोनोंमें अभिन्नता है। द्रव्य अगर गुणोंसे भिन्न माना जाय और गुण द्रव्यसे भिन्न माने जायें तो या तो एक द्रव्यकी जगह अनन्त द्रव्य मानने पड़ेंगे अथवा द्रव्य कुछ रहेगा ही नहीं। परमार्थके ज्ञाता, द्रव्य और गुणके बीच अविभक्त अनन्यत्व भी स्वीकार नहीं करते और विभक्त अन्यत्व भी नहीं मानते; किन्तु विभिन्न अपेक्षाओंसे भेद और अभेद स्वीकार करते हैं। उल्लेख, आकृति, संख्या और विषयसे सम्बन्ध रखनेवाला भेद जैसे दो भिन्न वस्तुओंमें हो सकता है, उसी प्रकार अभिन्न वस्तुओंमें भी सम्भव है।[1] धनवाला होनेके कारण मनुष्य धनी कहलाता है और ज्ञानवान् होनेसे ज्ञानी कहलाता है। परन्तु पहले उदाहरणमें धन, धनीसे भिन्न है; अतएव दोनोंमें सम्बन्ध होनेपर भी दोनोंकी सत्ता पृथक्-पृथक् है। इससे विपरीत ज्ञान, ज्ञानीसे भिन्न नहीं है। ऐसी अवस्थामें इनमें भेदका व्यवहार होनेपर भी बोलनेमें भेद होते हुए भी, भेद नहीं वरन् एकता है। ज्ञानी और ज्ञान सर्वथा भिन्न हों तो दोनों ही अचेतन ठहरेंगे। जिन्होंने यह स्वीकार नहीं किया है उनके मतमें वस्तुतः ज्ञानसे भिन्न होनेके कारण

---

१. 'देवदत्तकी गाय,' यह व्यवहार परस्पर भिन्न दो वस्तुओंके विषयमें है, किन्तु 'वृक्षकी डाली' या 'दूधकी सफेदी' यह दो अभिन्न वस्तुओंके विषयमें है। 'मोटे आदमीकी मोटी गाय' यह आकृतिभेद दो भिन्न वस्तुओंके सम्बन्धमें है और 'बड़े वृक्षकी बड़ी शाखा' या 'मूर्त द्रव्यका मूर्त गुण' यह भेद अभिन्न वस्तुओं-सम्बन्धी है। 'देवदत्तकी सौ गायें' यह संख्यागत भेद भिन्न वस्तुओंसे सम्बन्ध रखता है, परन्तु 'वृक्षकी सौ शाखायें' यह अभिन्न वस्तुओंसे सम्बन्ध रखता है। 'गोकुलमें गाय' यह विषयगत भेद भिन्न वस्तुओंके सम्बन्धका है परन्तु 'वृक्षमें शाखा' या 'दूधमें सफेदी' यह अभिन्न वस्तुसम्बन्धी विषयगत भेद है।

आत्मा ज्ञानी नहीं हो सकता, फिर भले ही उसका ज्ञानके साथ किसी प्रकारका सम्बन्ध भी क्यों न मान लिया जाय। आखिर ज्ञानके साथ सम्बन्ध होनेसे पहले उसे अज्ञानी कहना ही पड़ेगा। लेकिन अज्ञानी मान लेनेपर भी अज्ञानके साथ तो उसकी एकता (अभिन्नता) माननी पड़ेगी। सम्बन्ध दो प्रकारका है – संयोग सम्बन्ध और समवाय सम्बन्ध। एकके बिना दूसरेका न होना – दो वस्तुओंका सदा साथ ही रहना, पृथक् न रहना और दोनों पृथक्-पृथक् दिखलाई न देना समवाय सम्बन्ध कहलाता है। द्रव्य और गुणोंके बीच इसी प्रकारका सम्बन्ध होता है। परमाणुमें जो वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श कहे जाते हैं, वे परमाणुसे भिन्न नहीं हैं, तथापि व्यवहारमें उन्हें भिन्न कहते हैं। इसी प्रकार दर्शन और ज्ञानगुण भी जीवसे वस्तुतः अनन्यभूत हैं, परन्तु कहनेमें भिन्न कहे जाते हैं। वह स्वभावसे भिन्न नहीं है। (पं० ४३-५२)

आत्माके गुण अनन्त हैं और अमूर्त हैं। उन अनन्त गुणोंके द्वारा जीव विविध प्रकारके परिणामोंका अनुभव करता है (पं० ३१) (संसारी अवस्थामें) जीव चेतनायुक्त है, बोध-व्यापारसे युक्त है, प्रभु (करने न करनेमें समर्थ) है, कर्ता है, भोक्ता है, प्राप्त देहके परिमाणसे युक्त है। जीव वास्तवमें अमूर्त किन्तु कर्मबद्ध अवस्थामें मूर्त है। (पं० २७)

इन्द्रियाँ जीव नहीं हैं। छह प्रकारके काय (पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस जीवोंके शरीर) भी जीव नहीं हैं। इन इन्द्रियों और कायोंमें जो चेतना है, वही जीव है। जीव सब कुछ जानता है, सब कुछ देखता है। सुखकी इच्छा करता है दुःखसे डरता है। हित-अहित कार्योंका आचरण करता है और उनका फल भोगता है। इनसे तथा इसी प्रकारके अन्य अनेक पर्यायोंसे जीवको पहचानकर, ज्ञानसे भिन्न (स्पर्श, रस आदि) चिह्नोंसे अजीव तत्त्वको पहचानना चाहिए। आकाश, काल, पुद्गल, धर्म और अधर्म द्रव्योंमें जीवके गुण उपलब्ध नहीं होते, अतएव यह सब अचेतन हैं और जीव चेतन है। जिसमें सुख-दुःखका ज्ञान

नहीं है अथवा जो हितमें प्रवृत्ति और अहितसे निवृत्ति नहीं कर सकता वह अजीव है। संस्थान ( आकृति ), संघात, वर्ण, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्द तथा अन्य अनेक गुण और पर्याय पुद्गलद्रव्यके समझने चाहिए। जीव तो अरस, अरूप, अगन्ध, अव्यक्त, चेतन, शब्दरहित, इन्द्रियोंसे अगोचर और निराकार है। ( पं० १२१-७ )

### ३. आत्मा

जीवकायके छह भेद – जीवकायके छह भेद हैं : ( १ ) पृथ्वी ( २ ) पानी ( ३ ) अग्नि ( ४ ) वायु ( ५ ) वनस्पति और ( ६ ) त्रस-जंगम। त्रसकाय जीवयुक्त हैं, यह बात तो सहज ही समझी जा सकती है; परन्तु पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय भी जीवयुक्त हैं। उनके अवान्तरभेद अनेक हैं। यह काय अपने भीतर रहनेवाले उन जीवोंको सिर्फ स्पर्शेन्द्रिय-द्वारा मोहबहुल स्पर्शरूपसे भोग प्रदान करते हैं। ( अर्थात् पृथ्वीकाय आदिके जीवोंकी चेतना सिर्फ कर्मफलका अनुभव करती है। ) इनमें अग्नि और वायुको छोड़कर तीन स्थावर हैं। अग्नि और वायु भी वास्तवमें स्थावर ही हैं, किन्तु त्रसके समान गति उनमें देखी जाती है। यह पाँचों जीव एकेन्द्रिय हैं और मन-रहित हैं। जैसे अण्डेमें रहा हुआ जीव अथवा मूर्छित मनुष्य बाहरसे जीवित नहीं मालूम होता, फिर भी वह जीवित होता है, यही बात एकेन्द्रिय जीवोंके सम्बन्धमें समझनी चाहिए। ( त्रस जीवोंमें ) शम्बूक, शंख, सीप, कृमि आदि जीव स्पर्श और रस – इस प्रकार दो इन्द्रियोंवाले हैं। जूँ, खटमल, चिउँटी आदिमें घ्राण इन्द्रिय भी होती है। अतएव वे तीन इन्द्रियोंवाले हैं। डाँस, मच्छर, मक्खी, भौंरा, पतंग आदि जीव चार इन्द्रियवाले हैं – इनमें पूर्वोक्त तीनके अतिरिक्त चौथी चक्षु-इन्द्रिय भी पायी जाती है। जलचर, स्थलचर और खेचर – देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यंच ( पशु आदि ) में श्रोत्र ( कान ) इन्द्रिय भी होती है। यह सब पंचेन्द्रिय जीव

कहलाते हैं और बलवान् हैं। देवोंकी चार जातियाँ हैं। मनुष्योंके ( कर्मभूमिज[1] और अकर्मभूमिजके भेदसे ) दो प्रकार हैं। तिर्यंचोंमें अनेक जातियाँ हैं। नारकी (नरकभूमियोंके आधारपर), सात प्रकारके हैं। पहले बांधे हुए गति[2] नामकर्म और आयुकर्मका क्षय होनेपर यह सब जीव अपनी-अपनी लेश्या[3]के अनुसार दूसरी गति और आयु प्राप्त करते हैं। ( पं० ११०-९ )

**जीवकी परिणमनशीलता** – संसारी जीवका कोई भी पर्याय वहींका वहीं कायम नहीं रहता। इसका कारण यह है कि संसारी जीव अपने ( अज्ञानरूप ) स्वभावके कारण विविध प्रकारकी क्रियाएँ किया करता है। इन क्रियाओंके फलस्वरूप उसे देव, मनुष्य आदि अनेक योनियाँ मिलती हैं। अलबत्ता, जब वह अपने शुद्ध स्वरूपमें स्थिति-रूप 'परम धर्म'-का आचरण करता है, तब उसे देव, असुर आदि पर्यायरूप फलसे छुटकारा मिलता है। जीवको शरीर आदि विविध फल देनेवाला 'नामकर्म' नामक कर्म है। वह आत्माके शुद्ध निष्क्रिय स्वभावको दबाकर, आत्माको नर, पशु, नारक या देव गति प्राप्त कराता है। वास्तवमें कोई भी जीव इस क्षणिक संसारमें नष्ट नहीं होता, न उत्पन्न ही होता है। द्रव्यार्थिक नयसे देखा जाय तो एक पर्याय रूपसे नष्ट होकर दूसरे पर्याय रूपसे उत्पन्न होनेवाला द्रव्य एक ही है। पर्याय दृष्टिसे पर्याय ही अलग-अलग हैं। संसारमें कोई

---

१. जिस जगह असि, मषि, कृषि, वाणिज्य आदि कर्मों-द्वारा जीवन निर्वाह किया जाता है और जहाँ तीर्थंकर आदि धर्मोपदेशक उत्पन्न हो सकते हैं, वह क्षेत्र कर्मभूमि है। जहाँ नैसर्गिक वृक्षोंसे ही समस्त अभिलाषाओंकी पूर्ति की जाती है – कृषि आदि कर्म नहीं होते, वह क्षेत्र भोगभूमि या अकर्मभूमि कहलाता है।

२. जीवकी गति, शरीर, आकृति, वर्ण आदि निश्चित करनेवाला कर्म नामकर्म कहलाता है।

३. कषायसे अनुरंजित मन, वचन एवं कायकी प्रवृत्ति लेश्या कहलाती है।

वस्तु ऐसी नहीं है जो अपने स्वभावमें स्थिर हो। चारों गतियोंमें परिभ्रमण करनेवाले जीवद्रव्यकी विविध अवस्थाओंमें परिणमन करनेकी जो क्रिया है, उसीको संसार कहते हैं। ( प्र० २, २४-८ )

**कर्मबन्धन** – सम्पूर्ण लोक, सर्वत्र जड़-भौतिक द्रव्यके छोटे-बड़े स्कन्धोंसे खचाखच भरा हुआ है। कोई स्कन्ध सूक्ष्म है, कोई स्थूल है। आत्मा किसीको कर्म रूपमें ग्रहण कर सकता है, किसीको नहीं ग्रहण कर सकता। इन नाना स्कन्धोंमें-से, जो कर्मरूपमें परिणत होनेकी योग्यता रखते हैं, वह संसारी जीवके ( राग-द्वेष आदि अशुद्ध ) परिणामोंका निमित्त पाकर कर्मरूपमें परिणत हो जाते हैं और जीवके साथ बँध जाते हैं। कर्म-बन्धनके कारण जीवको विविध गतियाँ प्राप्त होती हैं। गतियाँ प्राप्त होनेपर देहकी भी प्राप्ति होती है। इसी प्रकार देहसे इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंसे विषयग्रहण और विषयग्रहणसे राग-द्वेषकी उत्पत्ति होती है। संसाररूप भूलभुलैयामें, इस तरह मलीन जीवमें अशुद्ध भावोंका प्रादुर्भाव होता है। ( पं० १२८-९ )

जीवको प्राप्त होनेवाले औदारिक,[1] वैक्रियिक, तैजस, आहारक और कार्मण-शरीर जड़ भौतिक द्रव्यात्मक हैं। जीव रसरहित, रूपरहित, गन्धरहित, अव्यक्त, शब्दरहित, अतीन्द्रिय ( अलिंगग्रहण ) और निराकार

---

१. औदारिक शरीर—बाहर दिखाई देनेवाला सप्तधातुमय शरीर औदारिक शरीर है। वैक्रियिक शरीर—छोटा, बड़ा, एक, अनेक आदि विविध रूप धारण कर सकनेवाला वैक्रियिक शरीर कहलाता है। यह शरीर देवों और नारकोंको जन्मसिद्ध होता है और अन्य जीवोंको तपस्या आदि साधनासे प्राप्त होता है। तैजसशरीर—खाये हुए आहारको पचाने और शरीरकी दीप्तिका कारणभूत शरीर। आहारक शरीर—चौदह पूर्व-शास्त्रोंके ज्ञाता मुनि-द्वारा, शंकासमाधानके निमित्त अन्य क्षेत्रमें विचरनेवाले तीर्थंकरके पास भेजनेके अभिप्रायसे रचा हुआ शरीर। कार्मणशरीर—जीव-द्वारा बाँधे हुए कर्मोंका समूह।

है तथा चेतनागुणसे युक्त है। यहाँ यह शंका की जा सकती है कि रूप आदि गुणोंसे युक्त मूर्त द्रव्य, स्निग्धता या रूक्षताके कारण आपसमें बद्ध हो सकता है; परन्तु स्निग्धता-रूक्षताहीन अमूर्त आत्मा जड़ – भौतिक द्रव्यरूप कर्मोंको अपनेसे किस प्रकार बद्ध कर सकता है? मगर यह शंका ठीक नहीं है। आत्मा अमूर्त होनेपर भी रूपी द्रव्योंको और उनके गुणोंको जैसे जान सकता और देख सकता है, उसी प्रकार रूपी द्रव्यके साथ उसका बन्ध भी हो सकता है। ज्ञान-दर्शनमय आत्मा विविध प्रकारके विषयोंको पाकर मोह करता है, राग करता है अथवा द्वेषयुक्त होता है। यही आत्माके साथ कर्मका बन्ध होना है। जीवसे जिस भाव इन्द्रियगोचर हुए पदार्थको देखता है और जानता है, उससे वह रंजित ( प्रभावित ) होता है और इसी कारण जीवके साथ कर्मका बन्ध होता है। ऐसा जैन शास्त्रका उपदेश है। यथायोग्य स्निग्धता या रूक्षताके कारण जड़ भौतिक द्रव्योंका आपसमें बन्ध होता है और रागादिके कारण आत्माका बन्ध होता है। इन दोनोंके अन्योन्य अवगाहमें पुद्गल और जीव दोनों हेतुभूत हैं। जीव स्वयं पारमार्थिक दृष्टिसे मूर्त नहीं है, परन्तु अनादिकालसे कर्म-बद्ध होनेके कारण मूर्त बना हुआ है। यही कारण है कि वह मूर्त कर्मोंको अपने साथ बाँधता है और स्वयं उनके साथ बँधता है। इन कर्मोंके फलस्वरूप जड़ विषयोंको जड़ इन्द्रियों-द्वारा जीव भोगता है। ( पं० १३२-४ )

आत्मा प्रदेशयुक्त है। आत्माके प्रदेशोंमें पुद्गलकाय यथायोग्य प्रवेश करता है, बद्ध होता है, स्थिर रहता है और फल देनेके पश्चात् अलग हो जाता है। जीव जब रागयुक्त होता है तब कर्मोंका बन्ध करता है, जब रागरहित होता है तब मुक्त होता है। संक्षेपमें यही जीवके बन्धका स्वरूप है। जीवके अशुद्ध परिणामसे बन्ध होता है। वह परिणाम राग, द्वेष और मोहसे युक्त होता है। इनमें मोह और द्वेष अशुभ हैं; राग शुभ और अशुभ दोनों प्रकारका होता है। परके प्रति शुभ परिणाम होनेसे

पुण्यका बन्ध होता है और अशुभ परिणामसे पाप बँधता है। पर-पदार्थके प्रति शुभ या अशुभ—किसी प्रकारका परिणाम न होना दुःखके क्षयका कारण है। ( प्र० २, ७५-८९)

**जीवका कर्तृत्व**—उदय अवस्थाको प्राप्त ( अर्थात् फलोन्मुख हुए ) कर्मको भोगते समय जीवमें जो परिणाम होता है, उसका कर्ता जीव ही है। उदयभाव, उपशमभाव, क्षयभाव या क्षयोपशमभाव[1], कर्मके बिना जीवमें नहीं हो सकते। यह चारों भाव कर्मकृत हैं। यहाँपर शंका हो सकती है कि यह भाव अगर कर्मकृत हैं तो इनका कर्ता जीव कैसे कहा जा सकता है ? इसलिए जीव पारिणामिक[2] भावके सिवा और किसी भी भावका कर्ता नहीं है; ऐसा कहना चाहिए। इस शंकाका समाधान यह है कि जीवके भावोंकी उत्पत्तिमें कर्म निमित्त कारण हैं और कर्मके परिणामकी उत्पत्तिमें जीवके भाव निमित्त कारण हैं। अलबत्ता, जीवके भाव कर्म-परिणाममें उपादान कारण नहीं हैं और न कर्मपरिणाम जीवके भावोंमें ही उपादान कारण है। आत्माका जो परिणाम है, वह तो स्वयं आत्मा ही है। परिणामकी यह क्रिया जीवमयी ही है। जीवने ही वह क्रिया की है, अतः वह जीवका ही कर्म है। परन्तु जो द्रव्यकर्म[3], जीवके साथ

---

१. उदय एक प्रकारकी आत्माकी कलुषता है, जो कर्मके फलानुभवनसे उत्पन्न होती है। उपशम सत्तागत कर्मके उदयमें न आनेसे होनेवाली आत्माकी शुद्धि है। कर्मके आत्यन्तिक क्षय होनेसे प्रकट होनेवाली आत्माकी विशुद्धि क्षयभाव कही जाती है। क्षयोपशम भी एक प्रकारकी आत्मशुद्धि है, जो सर्वघाति स्पर्द्धकोंके उदयाभावी क्षय तथा आगे उदयमें आनेवाले स्पर्द्धकोंके सदवस्था रूप उपशम और देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे होती है।

२. किसी द्रव्यका अपने स्वस्वरूपमें परिणमन करना पारिणामिकभाव कहलाता है।

३. कर्म दो प्रकारके हैं—जीवके जिन रागादिरूप भावोंसे द्रव्यकर्मका बन्धन होता है, वे भाव भावकर्म तथा बननेवाला पुद्गलद्रव्य द्रव्यकर्म कहलाता है।

चिपटता है, उसका उपादान कारण जीव नहीं है। जैसे अपने परिणमनका कर्ता आत्मा अपने भावोंका कर्ता है, उसी प्रकार कर्म भी अपने स्वभावसे ही अपने परिणमनका कर्ता है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अगर कर्म अपने परिणमनका कर्ता है और जीव अपने परिणमनका कर्ता है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि जीव कर्म बाँधता है या कर्मका फल भोगता है? इस प्रश्नका समाधान इस प्रकार है :

यह सम्पूर्ण लोक, सर्वत्र सूक्ष्म, स्थूल इस प्रकार अनन्तविध जड़-कर्मद्रव्योंसे खचाखच भरा हुआ है। जिस समय जीव अपना अशुद्ध विभाव-परिणमन करता है, उस समय, वहाँ एक ही क्षेत्रमें विद्यमान कर्मद्रव्य, जीवके साथ बँधकर ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंके रूपमें परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार कर्म अपने (ज्ञानावरण आदि) परिणामोंका कर्ता है सही, मगर जीवके भावोंसे संयुक्त होकर ही। तात्पर्य यह हुआ कि जैसे ही जीवमें भाव-परिणमन होता है कि जड़ कर्ममें भी उसका अपना परिणमन हो जाता है, इसी प्रकार कर्ममें अपना परिणमन होनेके साथ ही जीवके भावोंमें भी परिणमन होता है। इस तरह जीव अपने भावों-द्वारा कर्म-परिणमनका भोक्ता है। (पं० ५३-६९)

जीव परिणमनशील है। अतएव शुभ, अशुभ या शुद्ध—जिस किसी भावके रूपमें वह परिणमन करता है, वैसा ही वह हो जाता है। यदि आत्मा स्वभावसे अपरिणामी होता तो यह संसार ही न होता। कोई भी द्रव्य, परिणाम-रहित नहीं है और न कोई परिणाम द्रव्यरहित है। पदार्थका अस्थित्व ही द्रव्य, गुण और परिणाममय है। आत्मा जब शुद्ध भावके रूपमें परिणत होता है, तब निर्वाणका सुख प्राप्त करता है, जब शुभभाव-रूपमें परिणत होता है, तब स्वर्गका सुख प्राप्त करता है और जब अशुभभाव-रूपमें परिणत होता है तब हीन मनुष्य, नारक या पशु आदि बनकर सहस्रों दुःखोंसे पीड़ित होता हुआ चिरकाल तक संसारमें भ्रमण

करता रहता है। ( प्र० १, ८-१२ )

**जीवके शुभभाव**—जो आत्मा देव, साधु और गुरुकी पूजामें तथा दान, उत्तम शील और उपवास आदिमें अनुराग रखता है, वह शुभ भावोंवाला गिना जाता है[1]। जिस जीवका राग शुभ है, जिसका भाव अनुकम्पायुक्त है, तथा जिसके चित्तमें कलुषता नहीं है, वह जीव पुण्यशाली है। अर्हन्तों, सिद्धों और साधुओंमें भक्ति, धर्ममें प्रवृत्ति तथा गुरुओंका अनुसरण—यह सब शुभ राग कहलाता है। भूखे, प्यासे और दुःखीको देखकर स्वयं दुःखका अनुभव करना और दयापूर्वक उसकी सहायता करना अनुकम्पा है। क्रोध, मान, माया या लोभ चित्तको अभिभूत करके जीवको क्षुब्ध कर डालते हैं, यह कलुषता है। शुभ भाववाला जीव पशु, मनुष्य या देव होकर नियत समय तक इन्द्रियजन्य सुख प्राप्त करता है। ( पं० १३५-८ )

**जीवके अशुभभाव** – जो मनुष्य विषय-कषायोंमें डूबा रहता है, जो कुशास्त्रों, दुष्ट विचारों और गोष्ठीवाला है, जो उग्र और उन्मार्गगामी है, उसका चेतनाव्यापार अशुभ है। ( प्र० २, ६६ ) प्रमादबहुल प्रवृत्ति, कलुषता, विषय-लोलुपता, दूसरोंको परिताप पहुँचाना, दूसरेकी निन्दा करना, यह सब पापकर्मके द्वार हैं। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह – यह चार संज्ञाएँ, कृष्ण, नील और कापोत – यह तीन लेश्याएँ[1] इन्द्रियवशता

---

१. कषायसे अनुरंजित मन, वचन और कायकी प्रवृत्ति लेश्या कहलाती है। लेश्याएँ छह हैं – तीन शुभ और तीन अशुभ। हिंसा आदि उत्कट पापोंमें प्रवृत्ति करनेवाला, अजितेन्द्रिय पुरुष कृष्ण लेश्यावाला कहलाता है। ईर्षा, तपका अभाव, विषयलम्पटता, अविद्या और मायावाला, इन्द्रियसुखका अभिलाषी पुरुष नील लेश्यावाला कहलाता है। वक्र भाषण करनेवाला, वक्र आचरण करनेवाला, शठ एवं कपटी मनुष्य कापोत लेश्यावाला कहलाता है। यह तीन अशुभ लेश्याएँ हैं।

आर्तध्यान[1] और रौद्रध्यान, दूषित भावोंमें ज्ञानका प्रयोग करना और मोह – यह सब पापकर्मके द्वार हैं। ( पं० १३९-४० )

वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो शुभ और अशुभ भावोंके परिणाममें अन्तर नहीं है। देवोंको भी स्वभावसिद्ध सुख नहीं है, यही कारण है कि वह देहवेदनासे पीड़ित होकर रम्य विषयोंमें रमण करते हैं। नर, नारक, पशु और देव – इन चारों गतियोंमें देह-जन्य दुःखका सद्भाव है ही। सुखी-सरीखे दिखाई देनेवाले देवेन्द्र और चक्रवर्ती, शुभ भावोंके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले भोगोंमें आसक्त होकर देहादिकी वृद्धि करते हैं। शुभ भावोंके कारण प्राप्त हुए विविध पुण्योंसे देवयोनि तकके जीवोंको विषय-तृष्णा उत्पन्न होती है। तत्पश्चात् जागृत हुई तृष्णासे दुःखी और सन्तप्त होकर वह मरणपर्यन्त विषयसुखोंकी इच्छा करते हैं और उन्हें भोगते हैं। किन्तु इन्द्रियोंसे प्राप्त होनेवाला सुख दुःखरूप ही है, क्योंकि वह पराधीन है, बाधायुक्त है, निरन्तर रहता नहीं है, बन्धका कारण है तथा विषम ( हानिवृद्धियुक्त अथवा अतृप्तिजनक ) है। इस दृष्टिसे पाप और पुण्यके फलमें भेद नहीं है। ऐसा न मानकर जो पुण्यसे मिलनेवाले सुखोंको प्राप्त करनेकी इच्छा रखते हैं, वह मूढ़ मनुष्य इस घोर और अपार संसारमें भटकते फिरते हैं। ( प्र० १, ६९-७७ )

**जीवके शुद्धभाव** – जो मनुष्य परपदार्थोंमें राग और द्वेषसे रहित होकर अपने शुद्ध भावोंमें स्थित होता है, वही देहजन्य दुःखोंको दूर कर सकता है। पापकर्मोंको छोड़कर कोई शुभ-पुण्यचरित्रमें भले ही उद्यत हो, परन्तु जबतक वह मोह आदिका त्याग नहीं करता तबतक शुद्ध आत्माकी उपलब्धि नहीं हो सकती। अर्हन्त, आत्माका शुद्ध स्वरूप हैं। अतएव जो मनुष्य अर्हन्तको द्रव्य, गुण और पर्यायसे जानता है, वही

---

१. अप्रिय वस्तुके वियोग और प्रिय वस्तुके संयोगके लिए होनेवाली सतत चिन्ता आर्तध्यान है। हिंसा, असत्य, चोरी और विषय-संरक्षणके लिए होनेवाली सतत चिन्ता रौद्रध्यान है।

आत्माको भी जानता है और उसका मोह विलीन हो जाता है। आत्मासे भिन्न पदार्थोंमें जीवका जो मूढ़भाव (विपरीत दृष्टि) है, वही मोह कहलाता है। मोहयुक्त जीव अन्य पदार्थोंमें राग या द्वेष करके क्षुब्ध होता है और कर्मबन्धन करता है। इसके विपरीत, जो जीव मोहरहित होकर, आत्माके वास्तविक तत्त्वको समझकर, राग-द्वेषका त्याग करता है, उसे शुद्ध आत्माको प्राप्ति होती है। समस्त अर्हन्त इसी मार्गसे कर्मोंका क्षय करके, तथा अन्य जीवोंको इसी मार्गका उपदेश देकर मुक्त हुए हैं। उन महा-पुरुषोंको नमस्कार हो। ( प्र० १, ७८-८२ )

मैं अशुभ उपयोगसे दूर रहकर तथा शुभोपयोगवान् भी न बनकर, अन्य द्रव्योंमें मध्यस्थ रहता हुआ, ज्ञानात्मक आत्माका ध्यान करता हूँ। मैं देह नहीं हूँ, मन नहीं हूँ, वाणी नहीं हूँ तथा देह, मन और वाणीका कारणभूत पुद्गलद्रव्य नहीं हूँ। मैं कर्त्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ और करनेवालोंका अनुमन्ता भी नहीं हूँ। देह, मन और वाणी जड़-भौतिक द्रव्यात्मक हैं और भौतिक द्रव्य भी अन्ततः परमाणुओंका पिण्ड है। मैं जड़-भौतिक द्रव्य नहीं हूँ; इतना ही नहीं, पर मैंने उनके परमाणुओंको पिण्डरूप भी नहीं किया है। अतः मैं देह नहीं हूँ और देहका कर्ता भी नहीं हूँ। ( प्र० २, ६३-७० )

पृथ्वी आदि जितने भी स्थावर अथवा त्रस ( जंगम ) काय हैं, वह सब शुद्ध चैतन्य स्वभाववान् जीवसे भिन्न हैं; और जीव उन सबसे भिन्न है। जो जीव अपने मूल स्वभावको न जानकर, जीव और जड़ द्रव्यको अभिन्न मानता है, वह मोहपूर्वक 'मैं शरीरादिक हूँ, यह शरीरादि मेरे हैं, इस प्रकारके अध्यवसाय करता है। इस प्रकारके अध्यवसायसे जीवको मोहका बन्ध होता है और मोह-बन्धसे वह प्राणोंसे भी बद्ध होता है। इन कर्मोंका फल भोगता हुआ वह अन्य नवीन कर्मोंसे भी बद्ध होता है। मोह और द्वेषके कारण जीव जब अपने या अन्यके प्राणोंको पीड़ा पहुँचाता है, तब ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंसे बद्ध होता है। कर्ममलीन

आत्मा जहाँतक देहादि विषयोंमें ममता नहीं त्यागता तबतक पुनः-पुनः नवीन-नवीन प्राणोंको धारण किया करता है, परन्तु जो जीव इन्द्रियों, क्रोधादि विकारों तथा असंयम आदिको जीतकर अपने शुद्ध चैतन्य-स्वरूपका ध्यान करता है, वह कर्मोंसे बद्ध नहीं होता। फिर प्राण[1] उसका अनुसरण कैसे कर सकते हैं? ( प० २, ५३-९)

**शास्त्रज्ञानका सार**—जो श्रमण ममता नहीं तजता, साथ ही देह आदि पर-पदार्थोंमें अहंता-ममताको भूल नहीं जाता, वह उन्मार्गपर चलता है परन्तु मैं परका नहीं हूँ और पराये मेरे नहीं हैं, मैं अद्वितीय ज्ञानस्वरूप हूँ, जो ऐसा ध्यान करता है वह आत्मरूप बन जाता है। मैं अपने आत्माको शुद्ध, ध्रुव, ज्ञानस्वरूप, दर्शनस्वरूप, अतीन्द्रिय, महापुरुषार्थरूप, अचल और अनालम्व मानता हूँ। देह, अन्य द्रव्य, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र स्थायी नहीं रहते, केवल अपना ज्ञान-दर्शन-स्वरूप आत्मा ही ध्रुव है। ऐसा जानकर, जो गृहस्थ या मुनि विशुद्ध-चित्त होकर परमात्माका ध्यान करता है, वह दुष्ट मोह-ग्रन्थिको छिन्न-भिन्न कर डालता है। श्रमण होकरके भी जो मोहकी ग्रन्थि छेदकर, राग-द्वेषसे किनारा काटकर, सुख-दुःखमें सम-बुद्धिवाला होता है, वही अक्षय सुख पाता है। मोह-मल हटाकर, विषयोंसे विरत होकर, मनका निरोध करके, जो अपने चैतन्य-स्वरूपमें समवस्थित होता है, वही शुद्ध आत्माका ध्यान कर सकता है। ( प्र० २, ९०, १०६ ) जिन्हें पदार्थोंका सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो गया है, जिन्होंने अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह तज दिया है, जिनमें विषयोंके प्रति आसक्ति नहीं है, वह शुद्ध भाववाला कहलाता है। जो शुद्ध है, वही सच्चा श्रमण है। उसीको दर्शन प्राप्त है, उसीको ज्ञान प्राप्त है, उसीको

---

१. इन्द्रिय आदि प्राण आत्माके स्वरूपभूत नहीं हैं, किन्तु सशरीर अवस्थामें ये जीवके अवश्य होते हैं। इसीलिए अन्य दर्शनोंमें भी प्राणको जीवका चिह्न कहा है। "प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तर्विकारः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि'। ( वै० सू० ३, २, ४ )

निर्वाण है और वही सिद्ध है। उसे नमस्कार हो। चाहे गृहस्थ हो, चाहे मुनि, जो इस उपदेशको समझता है, वह शीघ्र ही 'प्रवचनसार' अर्थात् आगमका रहस्य प्राप्त कर लेता है। ( प्र० २, ७४-५ )

**पारमार्थिक सुख**—शुद्ध भावोंके रूपमें परिणत हुए आत्माको सर्वोत्कृष्ट, आत्मासे ही उत्पन्न होनेवाला, इन्द्रियोंके विषयोंसे अतीत, उपमारहित, अनन्त और निरवच्छिन्न परम सुख प्राप्त होता है। जो मुनि जीवादि नवपदार्थों एवं उनका निरूपण करनेवाले शास्त्रवचनोंको भली भाँति जानता[1] है, संयम[2] और तप[3] से युक्त होता है, जो राग-रहित है, तथा सुख-दुःखमें समभाव धारण करता है, वह शुद्ध भाववाला कहलाता है। ( प्र० १, १३-४ )

## ४. आत्माका शुद्ध स्वरूप

**स्वयम्भू**—ज्ञान और दर्शनको रोकनेवाले ( ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण ), वीर्य आदिके प्रकट होनेमें विघ्न करनेवाले ( अन्तराय ), और दर्शन तथा चारित्रमें रुकावट डालनेवाले ( मोहनीय ) कर्म-रूपी रजसे रहित और दूसरोंकी सहायताके बिना—स्वयं ही शुद्ध भावोंसे विशुद्ध बना हुआ आत्मा ज्ञेयभूत पदार्थोंका पार पाता है। इस प्रकार अपनी ही बदौलत अपने मूलस्वभावको प्राप्त, सर्वज्ञ तथा तीनों लोकोंके अधिपतियों-द्वारा पूजित आत्मा ही 'स्वयम्भू' कहलाता है। आत्माके शुद्ध स्वभावकी यह उपलब्धि अविनाशशील है और उसकी अशुद्धताका विनाश अन्तिम है वह फिर कभी उत्पन्न नहीं हो सकती। आत्माकी सिद्ध-अवस्था किसी अन्य कारणसे उत्पन्न नहीं होती; अतएव वह किसीका कार्य नहीं है; साथ

---

१. 'जानकर श्रद्धाके साथ तदनुसार आचरण करता है।'—टीका।

२. इन्द्रिय और मनकी अभिलाषासे तथा छह प्रकारके जीवोंकी हिंसासे निवृत्त होकर अपने स्वरूपमें स्थित होना संयम है।—टीका।

३. बाह्य एवं आन्तरिक तपोबलके कारण काम-क्रोध आदि शत्रुओं-द्वारा अखण्डित प्रतापवाले शुद्ध आत्मामें विराजमान होना तप है।—टीका।

ही वह किसीको उत्पन्न नहीं करती, अतएव किसीका कारण भी नहीं है। मुक्त जीव शाश्वत है, फिर भी संसारावस्थाकी अपेक्षा उसका उच्छेद है; पूर्णताकी उत्पत्तिकी दृष्टिसे वह भव्य—मुक्त होने योग्य—है, फिर भी अशुद्ध-अवस्थामें पुनः उत्पत्तिकी अपेक्षा वह अभव्य है; पर-स्वभावसे वह शून्य है, फिर भी स्व-स्वभावकी अपेक्षा वह पूर्ण है। विशुद्ध केवल ज्ञानकी अपेक्षासे वह विज्ञानयुक्त है, किन्तु अशुद्ध इन्द्रियज्ञानादिकी अपेक्षासे विज्ञानरहित है। मुक्त-अवस्थामें जीवका अभाव नहीं होता। ( पं० ३६-७) उसके स्वरूपका घात करनेवाले घातिकर्म[1] नष्ट हो गये हैं। उसका अनन्त उत्तम वीर्य है। उसका तेज[2] परिपूर्ण है। वह इन्द्रिय ( व्यापार ) रहित होकर आप ही ज्ञानरूप और सुख-स्वरूप बना है। अब उसे देहगत सुख या दुःख नहीं है, क्योंकि उसने अतीन्द्रियत्व[3] प्राप्त कर लिया है।

**सर्वज्ञता** – अपने-आप ही ज्ञान-रूप परिणत हुए आत्माको समस्त द्रव्यों और उनके समस्त पर्यायोंका प्रत्यक्ष होने लगा है। आत्माको अवग्रहादि क्रिया-पूर्वक[4] क्रमिक ज्ञान नहीं होता। अब उसके लिए कोई वस्तु

---

१. आठ कर्मोंमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहनीय, यह चार घातिकर्म कहलाते हैं, क्योंकि यह आत्माके गुणोंका साक्षात् घात करते हैं।

२. ज्ञान और दर्शन रूप तेज। – टीका।

३. इन्द्रियादिसे अब आत्माकी ज्ञान आदि क्रियाएँ नहीं होतीं। – टीका।

४. इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानके चार भेद हैं। यह चार भेद ज्ञानके क्रमिक अवस्थाभेदके सूचक हैं। घने अन्धकारमें किसी वस्तुका स्पर्श होनेपर 'यह कुछ है' इस प्रकारका अव्यक्त प्राथमिक ज्ञान 'अवग्रह' कहलाता है। तत्पश्चात् उस वस्तुका विशेषरूपमें निश्चय करनेके लिए जो विचारणा होती है, वह 'ईहा' है। जैसे – यह रस्सी है या साँप, इस तरहके संशयके अनन्तर 'यह रस्सी होनी चाहिए, साँप होता तो फुकारता।' ईहा-द्वारा ज्ञात वस्तुमें विशेषका निश्चय हो जाना 'अवाय' है। अवाय ज्ञान जब अत्यन्त दृढ़ अवस्थाको प्राप्त होता है, और जिसके कारण वस्तुका चित्र हृदयमें अंकित

परोक्ष नहीं है, क्योंकि वह स्वयं ज्ञान-स्वरूप बन गया है। वह इन्द्रियातीत है – इन्द्रियोंकी मर्यादा भी नहीं है। वह सभी ओरसे, सभी इन्द्रियोंके गुणोंसे समृद्ध बन गया है। इन्द्रियोंकी सहायता बिना ही, केवल आत्माके द्वारा आकाश आदि अमूर्त द्रव्योंका तथा मूर्त द्रव्योंमें भी अतीन्द्रिय परमाणु आदि पदार्थोंका और क्षेत्र एवं कालसे व्यवहित ( अन्तरयुक्त ) वस्तुओंका, तथा अपना या अन्य द्रव्योंका – समस्त पदार्थोंका उसे जो ज्ञान होता है, वह अमूर्त और अतीन्द्रिय होनेके कारण प्रत्यक्ष है। जब आत्मा अनादिकालीन बन्धके कारण मूर्त ( शरीरयुक्त ) होता है, तभी वह अपने ज्ञेय मूर्त पदार्थोंको अवग्रह, ईहा आदिके क्रमसे जानता है, अथवा नहीं भी जानता। ( प्र० १, ५३-८ )

**सर्वगतता** – आत्मा ज्ञानके बराबर है, ज्ञान ज्ञेयके बराबर है और ज्ञेय लोक तथा अलोक सभी हैं, अतएव ज्ञान-स्वरूप आत्मा सर्वगत व्यापक-कहलाता है। आत्मा अगर ज्ञानके बराबर न हो तो या तो उससे बड़ा होगा या छोटा होगा। अगर आत्मा ज्ञानसे छोटा है तो आत्मासे बाहरका ज्ञान अचेतन ठहरेगा और ऐसी अवस्थामें वह जान कैसे सकेगा ? अगर आत्मा ज्ञानसे बड़ा है तो ज्ञानसे बाहरका आत्मा, ज्ञानहीन होनेके कारण किस प्रकार जान सकता है ? अतएव ज्ञानमय होनेके कारण केवल-ज्ञानी जिनवर सर्वगत हैं, यही कहना उचित है। जगत्के समस्त पदार्थ आत्मज्ञानके विषय होनेके कारण तद्गत हैं। ज्ञान आत्मा ही है, आत्माके बिना ज्ञान रह ही कहाँ सकता है ? इसलिए ज्ञान आत्मा है, किन्तु आत्मा ज्ञान भी है और अन्य ( सुखादि ) भी है। ( प्र० १, २१-७ )

आत्मा ज्ञान-स्वभाव है और पदार्थ उसके ज्ञेय हैं। फिर भी जैसे चक्षु और रूप एक-दूसरेमें प्रवेश नहीं करते, वैसे ही ज्ञान और ज्ञेय अन्योन्यमें

---

हो जाता है और कालान्तरमें उस वस्तुका स्मरण किया जा सकता है, ऐसा संस्कारविशेष 'धारणा' ज्ञान कहलाता है।

प्रवेश नहीं करते। जैसे चक्षु रूपोंमें प्रवेश नहीं करता, उसी प्रकार ज्ञानी ज्ञेयोंमें प्रवेश नहीं करता और न ज्ञेयोंसे आविष्ट होता है, लेकिन सम्पूर्ण जगत्को वह भलीभाँति जानता है और देखता है। लोकमें जैसे दूधमें डूबा हुआ इन्द्रनील रत्न अपने प्रकाशसे दूधको व्याप्त कर देता है, उसी प्रकार ज्ञान पदार्थोंको व्याप्त कर देता है। अगर पदार्थ ज्ञानमें न होते तो ज्ञान सर्वगत न कहलाता; मगर जब कि ज्ञान सर्वगत तो है पदार्थ ज्ञानमें स्थित नहीं हैं, यह कैसे कहा जा सकता है? केवली भगवान् ज्ञेय पदार्थोंको न ग्रहण करते हैं, न त्यागते हैं, और न उन पदार्थोंके रूपमें परिणत ही होते हैं। फिर भी वह सभी कुछ, निरवशेष, जानते हैं। ( प्र० १, २८-३२ )

**ज्ञायकता**—जो जानता है वही ज्ञान है। भिन्न ज्ञानके द्वारा आत्मा ज्ञायक नहीं होता। इसलिए आत्मा ही ज्ञान है। आत्मा ज्ञानरूपमें परिणत होता है और समस्त पदार्थ उस ज्ञानमें स्थित होते हैं। ज्ञेय द्रव्य अतीत, अनागत और वर्तमानके भेदसे तीन प्रकारका है और इसमें आत्मा तथा अन्य पाँच द्रव्योंका समावेश हो जाता है[1]। इन सब द्रव्योंके विद्यमान और अविद्यमान पर्याय, अपने-अपने विशेषों-सहित केवलज्ञानमें ऐसे प्रतिबिम्बित होते हैं, जैसे वर्तमानकालीन हों। जो पर्याय अभीतक उत्पन्न नहीं हुए हैं और जो उत्पन्न होकर नष्ट हो गये हैं, वह सब अविद्यमान पर्याय कहलाते हैं और केवलज्ञान उन सबको प्रत्यक्ष जानता है। अगर अतीत और अनागत पर्यायोंको केवलज्ञान न जानता होता तो कौन उसे दिव्य ज्ञान कहता? जो जीव इन्द्रियगोचर पदार्थोंको अवग्रह, ईहा आदि क्रमपूर्वक जानते हैं, उनके लिए परोक्ष वस्तुको जानना अशक्य होता है। अतीन्द्रिय ज्ञान तो सभी पर्यायोंको जानता है; चाहे वह प्रदेशसहित हो या प्रदेशरहित हो, मूर्त हो या अमूर्त हो, अतीत हो या आनागत हो।

---

१. जैसे दीपक अपने-आपको और अन्य पदार्थोंको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार आत्मा स्व और पर दोनोंको जानता है, इसलिए आत्माका भी ज्ञेयोंमें समावेश होता है।

जो तीनों लोकों और तीनों कालोंके सब पदार्थोंको एक साथ नहीं जान सकता, वह समस्त अनन्त पर्यायोंसहित एक द्रव्यको भी नहीं जान सकता। और जो अनन्त पर्यायोंसहित एक द्रव्यको भी नहीं जान सकता वह अनन्त द्रव्योंको एक साथ क्या जानेगा? ज्ञानीका ज्ञान अगर विभिन्न पदार्थोंका अवलम्बन करके क्रमपूर्वक उत्पन्न होता है तो उसका ज्ञान नित्य भी नहीं कहा जा सकता, क्षायिक भी नहीं कहा जा सकता और सर्वगत भी नहीं कहा जा सकता। एक साथ त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंको जाननेवाले इस ज्ञानके माहात्म्यको तो देखो। ( प्र० १,४७-५१ )

**बन्धरहितता**—केवलज्ञानी समस्त पदार्थोंको जानता है, लेकिन उन पदार्थोंके निमित्तसे उसमें रागादि भाव उत्पन्न नहीं होता। वह उन पदार्थोंको न ग्रहण करता है, न तद्रूप परिणत ही होता है। इस कारण उसे किसी प्रकारका बन्धन नहीं होता। कर्म तो अपना फल देते ही हैं, मगर उन फलोंमें जो मोहित होता है, या राग-द्वेष करता है, वह बन्धनको प्राप्त होता है। जैसे स्त्रियोंमें मायाचार अवश्य होता है, उसी प्रकार उन अर्हन्तोंको कर्मके उदयकालमें स्थान, आसन, विहार, धर्मोपदेश आदि अवश्य होते हैं। परन्तु उनकी वह सब क्रियाएँ कर्मके परिणाम-स्वरूप ( औदयिकी ) हैं। मोह आदिका अभाव होनेके कारण उन क्रियाओंसे कर्मोंका क्षयमात्र होता है, नवीन बन्धन नहीं होता। ( प्र० १, ५२,४२-६ )

**पारमार्थिक सुखरूपता**—ज्ञानकी भाँति सुख भी दो प्रकारका है। अतीन्द्रिय-अमूर्त और ऐन्द्रिय-मूर्त। इन्द्रियादिकी सहायताके बिना स्वयं उत्पन्न हुआ, सम्पूर्ण, अनन्त पदार्थोंमें व्याप्त, विमल तथा अवग्रह आदिके क्रमसे रहित जो ज्ञान है, वही एकान्त सुख है। केवनज्ञान ही सच्चा सुख है। सम्पूर्ण घातिकर्म क्षीण हो जानेसे केवलज्ञानीको किसी प्रकारका खेद नहीं होता। स्वाभाविक ज्ञान-दर्शनका घात करनेवाला उनका सब अनिष्ट निवृत्त हो गया है और सब पदार्थोंके पार पहुँचा हुआ ज्ञान और लोक तथा अलोकमें विस्तार प्राप्त दर्शनरूप इष्ट उन्हें प्राप्त हो गया

है। उनका सुख सब सुखोंमें परम है। ऐसा माननेवाला ही भव्य (मोक्ष-का अधिकारी) है। जो ऐसा नहीं मानता वह अभव्य है। (प्र० १, ५९-६२)

मनुष्यों, असुरों और देवोंके अधिपति इन्द्रियोंकी सहज पीड़ासे पीड़ित होकर, उस पीड़ाको सहन न कर सकनेके कारण रम्य विषयोंमें रमण करते हैं। जिसे विषयोंमें रति है, उसके लिए दुःख स्वाभाविक ही समझो। ऐसा न होता तो विषयोंके लिए उसकी प्रवृत्ति ही सम्भव नहीं थी। वहाँपर भी स्वभावतः भिन्न-भिन्न इन्द्रियों-द्वारा भोग्य इष्ट विषयोंको पाकर सुखरूपमें परिणत होनेवाला आत्मा स्वयं ही सुखका कारण है; देह सुखका कारण नहीं है। यह निश्चित समझो कि देह इस लोकमें या स्वर्गमें जीवको किसी प्रकारका सुख नहीं दे सकता। जीव विभिन्न विषयों-के अधीन होकर, आप ही स्वयं सुख या दुःखरूपमें परिणत होता है। इस प्रकार जब आत्मा ही स्वयं सुखरूप है तो फिर विषयोंका क्या प्रयोजन है? जिसे अन्धकारका नाश करनेवाली दृष्टि ही प्राप्त हो गयी है, उसे दीपककी क्या आवश्यकता है? जैसे आकाशमें आदित्य देव स्वयं ही तेजरूप और उष्ण है, उसी प्रकार मुक्त आत्मा (सिद्ध देव) स्वयं ही ज्ञानमय और सुखस्वरूप है। (प्र० १, ६३-८)

कर्मोंकी मलिनतासे मुक्त, पूर्ण दर्शन और पूर्ण ज्ञानसे युक्त वह जीव, आयु पूर्ण होनेपर लोकके अग्रभागपर पहुँचकर इन्द्रियातीत, अनन्त, बाधा-रहित और आत्मिक सुख प्राप्त करता है। (पं० २८)

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश – इन चार प्रकारके बन्धोंसे[1] पूर्णरूपेण मुक्त जीव ऊर्ध्व गमन करता है। अन्य सब जीव पूर्व, पश्चिम,

१. जीवके साथ जिस समय कर्म-परमाणुओंका बन्ध होता है उसी समय उनमें चार अंशोंका निर्माण होता है। कर्म-परमाणुओंमें ज्ञानको आवरण करने-का या दर्शनको रोकनेका या अन्य किसी प्रकारका स्वभाव उत्पन्न हो जाना प्रकृतिबन्ध है। अमुक समय तक उस स्वभावके बने रहनेकी कालमर्यादा

उत्तर, दक्षिण, ऊपर और नीचे, इन छह दिशाओंमें ( से किसी भी दिशामें ) जाते हैं। ( पं० ७१-३ )

## ५. मार्ग

**दर्शन, ज्ञान, चारित्र** – मुमुक्षु पुरुषको जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष – इन नौ पदार्थोंका ज्ञान होना आवश्यक है। ज्ञानियोंने इन नौ पदार्थोंका स्वरूप जिस प्रकारका निरूपण किया है, उस स्वरूपपर श्रद्धा या रुचि होना सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन कहलाता है। इन पदार्थोंके सच्चे ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहते हैं और उस ज्ञानके प्रतापसे विषयोंके प्रति लम्पटतासे रहित होकर समभाव-पूर्वक प्रवृत्ति करना चारित्र – सम्यक् चारित्र है। श्रद्धा और ज्ञानसे युक्त तथा राग-द्वेषसे रहित चारित्र ही मोक्षका मार्ग है। मोक्षके अधिकारी एवं विवेकबुद्धिसे सम्पन्न पुरुष मोक्षमार्ग पाते हैं। ( पं० १०६-८ )

**आस्रव और संवर** – आस्रव अर्थात् द्वार; जिन पापक्रियाओंसे आत्माको कर्मबन्धन होता है उन्हें आस्रव या कर्मबन्धनका द्वार कहते हैं। संयम-मार्गमें प्रवृत्त होकर इन्द्रियोंका, कषायों[1] का और संज्ञाओं[2] का निग्रह किया जाय, तो ही आत्मामें पापके प्रवेश करनेका द्वार बन्द होता है – संवर होता है। जिसे किसी भी वस्तुपर राग, द्वेष या मोह नहीं है और जिसके लिए सुख और दुःख समान हैं, ऐसे भिक्षुको शुभ या अशुभ कर्मका

---

स्थितिबन्ध है। स्वभाव उत्पन्न होनेके साथ ही कर्म-परमाणुओंमें तीव्र या मन्द फल देनेकी शक्ति भी उत्पन्न होती है, वह शक्ति 'अनुभागबन्ध' कहलाती है। स्वभावके अनुसार उन परमाणुओंका अमुक-अमुक परिमाणमें बँट जाना प्रदेशबन्ध कहलाता है।

१. क्रोध, मान, माया और लोभ, यह चार वृत्तियाँ जीवके स्वभावको मलिन करनेके कारण कषाय कहलाती हैं।

२. आहार, भय, मैथुन और परिग्रह, यह चार संज्ञाएँ हैं।

बन्ध नहीं होता है। जिस विरत पुरुषको मानसिक, वाचिक या कायिक प्रवृत्तिमें पापभाव या पुण्यभाव नहीं होता, उसे सदा 'संवर' है। उसे शुभ या अशुभ कर्मका बन्ध नहीं होता। ( पं० १४०-३ )

निर्जरा – संवरका आचरण करनेसे नवीन आनेवाले कर्म रुक जाते हैं; पर जबतक पुराने बँधे हुए कर्मोंको हटाकर साफ नहीं कर दिया जाता, तबतक आत्मा शुभ या अशुभ भाव प्राप्त करता ही रहता है और इन भावोंके कारण नवीन कर्मोंका बन्धन होता रहता है। उन बँधे हुए कर्मोंको हटा देना – आत्मासे पृथक् कर देना निर्जरा है। जो मनुष्य संयम-द्वारा आनेवाले नवीन कर्मोंको रोक देता है और ध्यानयोगसे युक्त होकर विविध प्रकारके तपोंका आचरण करता है, वह अवश्य ही अपने कर्मोंकी निर्जरा कर डालता है। जो आत्मार्थी पुरुष संयमयुक्त होकर, ज्ञानस्वरूप आत्माको जानकर सदैव उसका ध्यान किया करता है, वह निस्सन्देह कर्म-रजकी निर्जरा करता है। जिसमें राग, द्वेष या मोह और मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति नहीं है, उसीको शुभाशुभ कर्मोंको दग्ध कर देनेवाली ध्यानमय अग्नि प्राप्त होती है। योग अर्थात् मन, वचन और शरीरके व्यापारसे कर्म-रजका बन्ध होता है, योग मन-वचन-कायकी क्रियासे होता है। बन्ध आत्माके अशुद्ध भावोंसे होता है और भाव प्रिय एवं अप्रिय पदार्थोंमें रति, राग और मोहयुक्त होता है। आठ[1] प्रकारके कर्मोंके बन्धका कारण मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग है। इनका भी कारण रागादि भाव है। जिसमें रागादि भाव नहीं है उसे बन्ध भी नहीं होता। रागादि

---

१. ( १ ) ज्ञानावरण – ज्ञानको आवृत करनेवाला, ( २ ) दर्शनावरण – दर्शनको आवृत करनेवाला, ( ३ ) वेदनीय – सुख-दुःखका अनुभव करनेवाला, ( ४ ) मोहनीय – दर्शन एवं चारित्रको मूढ़ करनेवाला, ( ५ ) आयु – आयुष्य निश्चित करनेवाला, ( ६ ) नामकर्म – गति, आकृति, आदि उत्पन्न करनेवाला, ( ७ ) गोत्रकर्म – प्रशस्त या अप्रशस्त कुलमें जन्मका कारण, ( ८ ) अन्तराय – दान, लाभ आदिमें विघ्न डालनेवाला कर्म।

कारणोंके अभावसे ज्ञानी पापजनक प्रवृत्ति नहीं करता, अतएव उसका कर्मबन्ध रुक जाता है। कर्मके अभावसे जीव सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होता है और इन्द्रियरहित, अव्याबाध और अनन्त सुख पाता है। श्रद्धा और ज्ञानसे परिपूर्ण तथा अन्य द्रव्योंके सम्बन्धसे रहित ध्यान शुद्ध स्वभावी साधुके कर्मक्षयका कारण होता है। ( पं० १४४-५२ )

जो संयमयुक्त है और जो सब कर्मोंका क्षय करनेमें प्रवृत्त रहता है, वह वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुकर्मका क्षय होते ही संसारको छोड़ देता है। इसीका नाम मोक्ष है। ( पं० १५३ )

**चारित्र** – चैतन्य स्वभावसे अभिन्न अप्रतिहत ज्ञान और अप्रतिहत दर्शन जीवका स्वभाव है। जीवका ( रागादिके अभावसे ) निश्चल-स्थिर-अस्तित्व ही निर्मल चारित्र है। जो जीव अपने वास्तविक स्वभावमें निश्चल है, वह स्वसमयी[1] है। किन्तु ( अनादिकालीन मोहके कारण ) जो जीव अनेक ( मतिज्ञान आदि ) गुणों और ( नर-नारक आदि ) पर्यायोंसे युक्त बनता है, वह परसमयी है। जो जीव स्व-स्वभाव ही का आचरण करता है, वह कर्मबन्धसे मुक्त होता है। जो जीव रागपूर्वक परद्रव्यमें शुभ या अशुभ भाव धारण करता है, वह स्वचरित्रसे भ्रष्ट होकर परचारित्री बनता है। जो सर्वसंगविनिर्मुक्त और अनन्यमनस्क जीव अपना शुद्ध स्वभाव निश्चयपूर्वक जानता और देखता है, वह स्व-चारित्र-का आचरण करता है। जिस जीवकी परद्रव्योंमें उपादेय बुद्धि मिट गयी है तथा जो दर्शन और ज्ञानसे अभिन्न आत्माका ही आचरण करता है, वह स्व-चरित्रका आचरण करता है। धर्मद्रव्य आदि पदार्थोंमें श्रद्धा, सम्यक्त्व या दर्शन, अंगों और पूर्वोंमें जिसका निरूपण किया गया है वह ज्ञान, और तपश्चरण चारित्र है; यह व्यावहारिक रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग

---

१. समय अर्थात् सिद्धान्त-शास्त्र। स्वसमयी अर्थात् अपने धर्मका अनुसरण करनेवाला जैन। जो समभाव-स्वभाव प्राप्त करता है वही जैन है, यहाँ ऐसा आशय समझना चाहिए।

है। किन्तु उल्लिखित तीनोंसे समाहित आत्मा जब स्व-स्वभावसे भिन्न और कुछ भी आचरण नहीं करता और स्वभावका त्याग नहीं करता, तब वह पारमार्थिक दृष्टिसे मोक्षमार्गी कहलाता है। जो पुरुष अनन्यमय आत्माको, आत्मा-द्वारा जानता और देखता है, निश्चय ही वह ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप बन जाता है। मुक्त जीव समस्त वस्तुओंको जानता और देखता है, इस कारण उसे अनन्त सुखका भी अनुभव होता है। अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख, एक ही वस्तु हैं, ऐसा भव्य[1] जीव मानता है। अभव्य[2] ऐसा नहीं मानता। साधुजन कहते हैं—दर्शन, ज्ञान और चारित्र मोक्षके मार्ग हैं, अतएव इनका सेवन करना चाहिए; परन्तु इन तीनोंसे तो बन्ध भी होता है और मोक्ष भी होता है। कतिपय सरागी ज्ञानियोंकी मान्यता है कि अर्हत् आदिकी भक्तिसे दुःखमोक्ष होता है, परन्तु इससे तो जीव परसमय-रत होता है। क्योंकि अर्हत्, सिद्ध, चैत्य, शास्त्र, साधु-समूह और ज्ञान, इन सबकी भक्तिसे पुरुष पुण्यकर्मका बन्ध करता है, कर्मक्षय नहीं करता। जिसके हृदयमें परद्रव्यसम्बन्धी अणुमात्र भी राग विद्यमान है, वह अपने शुद्ध स्वरूपको नहीं जानता; फिर चाहे उसने सम्पूर्ण शास्त्रोंका पारायण ही क्यों न कर लिया हो। आत्मध्यान बिना चित्तके भ्रमणका अवरोध होना सम्भव नहीं है। और जिसके चित्तभ्रमण-का अन्त नहीं हुआ, उसे शुभ-अशुभ कर्मका बन्ध रुक नहीं सकता। अतएव निवृत्ति ( मोक्ष ) के अभिलाषीको निःसंग और निर्मल होकर स्वरूपसिद्ध आत्माका ध्यान करना चाहिए। तभी उसे निर्वाणकी प्राप्ति होगी। बाकी जैनसिद्धान्त या तीर्थंकरमें श्रद्धावाले, श्रुतपर रुचि रखनेवाले तथा संयम तपसे युक्त मनुष्यके लिए भी निर्वाण दूर ही है। मोक्षकी कामना करनेवाला कहीं भी, किंचित् मात्र भी राग न करे। ऐसा करनेवाला भव्य भवसागर तर जाता है। ( पं० १५५-७३ )

१. भव्य-भविष्यमें मुक्ति पानेकी योग्यतावाला।

२. अभव्य—भव्यसे विपरीत।

## (ख)

**संन्यास** – यह सब जानकर, अगर तुझे दुःखसे छुटकारा पानेकी अभिलाषा हो तो सिद्धोंको, जिनेश्वरोंको और श्रमणोंको पुनः-पुनः प्रणाम करके श्रमणता स्वीकार कर। उसकी विधि इस प्रकार है : गुरुजनोंसे तथा पत्नी और पुत्रसे उनके इच्छानुसार छुटकारा लेकर, बन्धुवर्गकी आज्ञा प्राप्त करके मुमुक्षु पुरुष आचार्यके समीप जाये। आचार्य ज्ञान, दर्शन, चारित्र तप और वीर्य – इन पाँच आचारोंसे सम्पन्न हों, गणके अधिपति हों, गुणाढ्य हों, विशिष्ट कुल, रूप और वय ( उम्र ) से युक्त हों और अन्य श्रमणोंको इष्ट हों। उनके समीप पहुँचकर, उन्हें नमस्कार करके 'मुझे स्वीकार कीजिए' ऐसा कहना चाहिए। तत्पश्चात् जब आचार्य अनुग्रह करें तो जैन साधुका वेष इस प्रकार धारण करना चाहिए :

सर्वप्रथम 'मैं किसीका नहीं हूँ, दूसरा कोई मेरा नहीं है, इस संसारमें मेरा कोई नहीं है' ऐसा निश्चय करके, जितेन्द्रिय होकर जन्मजात-दिगम्बर-रूप धारण करना चाहिए ( अर्थात् वस्त्र आदिका सर्वथा त्याग करना चाहिए )। केश और दाढ़ी वगैरह उखाड़ फेंकना चाहिए। परिग्रह-रहित शुद्ध बन जाना चाहिए। हिंसादिसे रहित होना, शरीरका संस्कार त्याग देना, आसक्तिपूर्वक प्रवृत्ति न करना तथा शुभाशुभ भावोंका त्याग करके शुद्धभावसे युक्त तथा निर्विकल्प समाधिरूप योगसे युक्त बनना चाहिए।

परपदार्थकी अपेक्षा न रखनेवाला जैन साधुका वेष पुनर्भवका नाश करनेवाला है। इस प्रकार परमगुरुके सन्निकट जैन साधुकी दीक्षा लेकर, उन्हें नमस्कार करके, उनके श्रीमुखमे व्रतसहित आचार श्रवण करके, उसमें प्रयत्नशील रहनेवाला सच्चा श्रमण कहलाता है। श्रमण होते हुए भी जो मुनि जिनप्ररूपित तत्त्वोंपर श्रद्धा नहीं रखता वह श्रमण नहीं है और वह आत्माका शुद्ध स्वरूप भी नहीं पा सकता। जिसकी मोहदृष्टि नष्ट हो

गयी है, जो शास्त्रकुशल है और जो वीतराग-चरित्रमें उद्यमशील है, वह महात्मा 'धर्म' अर्थात् शुद्धात्म-स्वरूप बनता है। (प्र० १, ९१-२, प्र० ३, १-७)

मूलगुण – पाँच महाव्रत, पाँच [1] समिति, पाँच इन्द्रियोंका निरोध, केशलुंचन, छह आवश्यक [2] क्रियाएँ, वस्त्ररहितता, अस्नान, भूमिशय्या, दतौन न करना, खड़े-खड़े भोजन करना और दिनमें एक ही बार भोजन करना, इन अट्ठाईस नियमोंको जिनवरने श्रमणके मूलगुण कहा है। इसमें प्रमाद करनेवाले श्रमणका श्रमणपद खण्डित हो जाता है और उसे पुनः नयी दीक्षा लेनी पड़ती है। [3] दीक्षा देनेवाला गुरु 'प्रव्रज्यादायक' कहलाता

---

१, हिंसासे बचनेके लिए यत्न—सावधानी-पूर्वक प्रत्येक क्रिया करना समिति है। 'समिति' के पाँच भेद हैं – (१) चार हाथ आगेकी भूमि देखकर चलना ईर्यासमिति कहलाती है। (२) हित, मित, मधुर और सत्य भाषण करना भाषासमिति है। (३) निर्दोष आहार – जो मुनिके लिए न बनाया गया हो – ग्रहण करना एषणासमिति है। (४) संयमके उपकरण शास्त्र, कमण्डलु आदिको देख-भालकर रखना और उठाना आदाननिक्षेपण समिति है। (५) जीव-जन्तुरहित भूमिपर, देख-भालकर मल-मूत्र आदिका उत्सर्ग करना उत्सर्ग-समिति है।

२. षट् आवश्यक क्रियाएँ इस प्रकार हैं : (१) सामायिक दुश्चिन्तनका त्यागकर, आत्मचिन्तन करते हुए चित्तको समभावमें स्थापित करना। (२) चतुर्विंशतिस्तव – चौबीस तीर्थंकरोंका नामपूर्वक गुणकीर्तन करना। (३) वन्दन – वन्दनाके योग्य धर्माचार्योंको विधिपूर्वक नमस्कार करना। (४) प्रतिक्रमण – शुभ आचार त्यागकर अशुभ आचारमें प्रवृत्ति की हो तो उससे कटकर पुनः शुभमें विधिपूर्वक आना तथा कृत दोषोंकी स्वीकृतिपूर्वक क्षमायाचना करना। (५) कायोत्सर्ग – स्थान, मौन और ध्यान तथा श्वासोच्छ्वास आदिके सिवा अन्य समस्त शारीरिक प्रवृत्तियोंका (नियत समय तक) त्याग कर देना। (६) प्रत्याख्यान–प्रवृत्तिकी मर्यादा निश्चित कर लेना–चारित्र सम्बन्धी कोई भी नियम ग्रहण करना।

३. मूलमें, 'छेदोपस्थापक होता है'।

है; और संयमका एकदेशीय अथवा सर्वदेशीय छेद करके, फिर संयममें स्थापन करनेवाला गुरु 'निर्यापक' कहलाता है। सावधान रहकर प्रवृत्ति करनेपर भी यदि किसी श्रमणके संयमका छेद हो जाये तो आलोचना करके, पुनः प्रवृत्ति प्रारम्भ करना ही पर्याप्त है, किन्तु जानते-बूझते संयमका भंग किया हो तो जैनमार्गकी व्यवहार क्रियामें चतुर श्रमणके समीप जाकर, उसके समक्ष अपना दोष प्रकाशित कर देना चाहिए और वह जैसा कहे, वैसा करना चाहिए। श्रमणको गुरुके संसर्गमें या अन्यत्र कहीं, अपनी श्रमणताका भंग न होने देना चाहिए तथा परद्रव्यमें इष्ट-अनिष्ट सम्बन्धोंका त्याग करते हुए विहरना चाहिए। जो श्रमण सदैव दर्शनपूर्वक, ज्ञानके अधीन होकर आचरण करता है; अनन्त गुण-युक्त ज्ञानस्वरूप आत्मामें नित्य लीन रहता है, साथ ही मूलगुणोंमें प्रयत्नशील बना रहता है, उसकी श्रमणता परिपूर्ण कहलाती है। अतएव, प्रयत्नशील मुनिको आहारमें या अनशनमें, निवासस्थानमें या विहारमें, देहमात्र परिग्रह या परिचित मुनिमें – किसी भी परपदार्थमें अथवा विकथामें लीन नहीं होना चाहिए। ( प्र० ३, ८–१५ )

**अहिंसा** – सोने, बैठने और चलने-फिरने आदिमें मुनिकी सावधानता रहित जो प्रवृत्ति है, वही उसकी हमेशा निरन्तर चलनेवाली हिंसा है। क्योंकि 'दूसरा जीव जीये या मरे' इस प्रकारकी लापरवाही रखनेवालेको हिंसाका पाप निश्चय ही लगता है। किन्तु जो मुनि समितियुक्त तथा यत्नशील है, उसे हिंसामात्रसे बन्ध नहीं होता। सावधानीसे प्रवृत्ति न करनेवाला श्रमण छहों जीवकायोंका वध करनेवाला गिना जाता है, किन्तु हमेशा प्रयत्नपूर्वक बरतनेवाला जलमें कमलकी तरह निर्लेप रहता है। ( प्र० ३, ६–८ )

**अपरिग्रह** – मुनिकी कायचेष्टा-द्वारा जीवके मर जानेपर भी, जैसा कि पहले कहा गया है, मुनिको बन्ध होता है अथवा नहीं भी होता, मगर परिग्रहसे तो अवश्य ही बन्ध होता है, इसीलिए श्रमण सर्वत्यागी होता है।

जबतक मुनि निरपेक्ष भावसे सर्व परिग्रहका त्याग नहीं करता, उसकी चित्तशुद्धि नहीं हो सकती; और जबतक चित्त अशुद्ध है तबतक कर्मका क्षय हो ही कैसे सकता है? परिग्रह करनेकालेमें आसक्ति, आरम्भ या असंयमका होना अनिवार्य है। और जहाँतक परद्रव्यमें आसक्ति है तहाँ-तक मनुष्य आत्मसाधना किस प्रकार कर सकता है? कोई श्रमण किंचित् परिग्रह ( उपकरणरूप )का सेवन करता भी हो, तो भी उसे काल और क्षेत्र देखकर इस प्रकार बरतना चाहिए कि संयमका छेद न हो। उसका परिग्रह चाहे कितना ही अल्प क्यों न हो, मगर वह निषिद्ध तो हरगिज नहीं होना चाहिए। वह ऐसा नहीं होना चाहिए, जिसकी असंयमी लोग इच्छा करते हैं। साथ ही ममता, आरम्भ और हिंसादिक उत्पन्न करनेवाला नहीं होना चाहिए। मुमुक्षु पुरुषके लिए शरीर भी संग-रूप है। इस कारण जिनेश्वरोंने ( दातौन, स्नान आदि ) शारीरिक संस्कारोंके भी त्यागका उपदेश किया है। (प्र० ३,१९-२४)

जैनमार्गमें मुमुक्षुके लिए निम्नलिखित साधनसामग्री विहित है– जन्मजात जैसा जन्मा वैसा-अपना ( नग्न ) शरीर, गुरुवचन, विनय और श्रुतका अध्ययन। जिसे न इस लोककी अपेक्षा है न परलोककी आसक्ति है, जिसका आहार-विहार प्रमाणपूर्वक है, जो कषायरहित है, वही श्रमण कह-लाता है। जिसका आत्मा एषणासे रहित है, वह सदैव अनशन तप करने-वाला है। श्रमण इसी अनशनकी आकांक्षा रखते हैं। शुद्धात्म-स्वरूपकी उप-लब्धिके लिए निर्दोष आहार ग्रहण करनेवाले श्रमण निराहार ही हैं, ऐसा समझना चाहिए। श्रमणको केवल देहका ही परिग्रह है, लेकिन देहमें भी उन्हें ममता नहीं है और अपनी शक्तिके अनुसार तपमें ही देहका प्रयोग करते हैं। श्रमण दिनमें एक ही बार आहार ग्रहण करते हैं, पेटको खाली रखते हुए आहार लेते हैं – भरपेट नहीं, भिक्षामें जैसा मिलता है वैसा ही खाते हैं, दिनमें ही खाते हैं, रसकी अपेक्षा नहीं रखते, मद्य-मांसके पास नहीं फटकते। बालक हो, वृद्ध हो, थका हुआ हो या रोगग्रस्त हो तो ऐसी

अवस्थामें, अपनी शक्ति या अवस्थाके अनुसार ऐसी चर्या रखनी चाहिए जिससे मूल गुणोंका उच्छेद न हो। जो श्रमण अपने आहार-विहारमें देश, काल, श्रम, शक्ति और शरीरकी स्थितिका सोच-विचार करके बरतता है, उसे कमसे कम बन्ध होता है। ( प्र० ३, २७–३१ )

**शास्त्रज्ञान** – जो एकाग्र हो, वही श्रमण कहलाता है। एकाग्रता वही प्राप्त कर सकता है, जिसे पदार्थोंका निश्चय हो गया हो। पदार्थोंका निश्चय आगमसे होता है। अतएव आगमज्ञान प्राप्त करनेके लिए प्रयत्न करना अत्यन्त आवश्यक है। आगम पढ़नेपर भी यदि तत्त्वार्थमें श्रद्धा न हो तो मुक्ति नहीं मिल सकती। इसी प्रकार, श्रद्धा होनेपर भी अगर तदनुसार संयम ( आचरण ) न हुआ तो भी निर्वाणकी प्राप्ति नहीं हो सकती। लाखों या करोड़ों भवोंमें भी अज्ञानी जिन कर्मोंका क्षय नहीं कर सकता, उन कर्मोंको ज्ञानी श्रमण एक उच्छ्वासमात्रमें क्षय कर डालता है। इसके अतिरिक्त जिसके अन्तःकरणमें देह आदिके प्रति अणुमात्र भी आसक्ति है, वह समस्त आगमोंका पारगामी होनेपर भी सिद्धिलाभ नहीं कर सकता। जो पाँच समितियों और तीन गुप्तियोंसे सुरक्षित होता है; पाँचों इन्द्रियोंका निग्रह करता है, कषायोंपर विजय प्राप्त करता है और दर्शन तथा ज्ञानसे परिपूर्ण होता है, वह श्रमण, संयमी कहलाता है। उसके लिऐ शत्रु और बन्धुवर्ग, सुख और दुःख, प्रशंसा और निन्दा, मिट्टीका ढेला और सोना तथा जीवन और मरण, सब समान होते हैं। दर्शन, ज्ञान और चारित्र, इन तीनोंमें एक साथ प्रयत्नशील रहनेवाला ही एकाग्रता प्राप्त करता है और उसीका श्रमणपन परिपूर्ण होता है। परद्रव्यका संयोग होनेपर जो अज्ञानी श्रमण मोह, राग या द्वेष करता है, वह विविध कर्मोंका बन्धन करता है। परन्तु जो श्रमण अन्य द्रव्योंमें राग, द्वेष या मोह धारण नहीं करता, वह निश्चय ही विविध कर्मोंका क्षय कर सकता है। ( प्र० ३, ३२–४ )

**सेवाभक्ति** – जैनसिद्धान्तमें दो प्रकारके श्रमण बतलाये गये हैं –

कोई शुद्धभाववाला होता है, कोई शुभभाववाला। इनमें जो शुद्धभाववाला है, वही कर्मबन्धनसे रहित ( अनास्रव ) है; दूसरे सब कर्म-बन्धनके अधीन हैं। अर्हन्त आदिकी भक्ति तथा शास्त्रज्ञ आचार्य आदिके प्रति वत्सलता-भाव रखनेवाला श्रमण शुभभाववाला कहलाता है। जबतक अपनी सराग अवस्था है, तबतक सन्त पुरुषोंको वन्दन-नमस्कार करना, उनके सामने आनेपर खड़ा होना, उनका अनुसरण करना, इत्यादि प्रवृत्तियाँ श्रमणके लिए निषिद्ध नहीं हैं। दर्शन और ज्ञानका उपदेश देना, शिष्योंको ग्रहण करना, उनका पालन करना और जिनेन्द्रकी पूजाका उपदेश देना—यह सराग अवस्थावाले मुनियोंकी चर्या है। अन्य जीवोंको किसी प्रकारकी बाधा न पहुँचाते हुए चतुर्विध श्रमणसंघकी सेवा करना भी सराग अवस्था-वालेकी प्रवृत्ति है। परन्तु इस प्रकारकी सेवा करनेके लिए अन्य जीववर्ग-को कष्ट पहुँचानेवाला श्रमण नहीं रह सकता। ऐसा करना तो गृहस्थ श्रावकका धर्म है। गृहस्थधर्मको पालते हुए या यतिधर्मका अनुष्ठान करते हुए जैनोंकी निष्काम बुद्धिसे सेवादि करना चाहिए। ऐसा करते हुए थोड़ा-बहुत कर्मबन्ध हो तो भी हानि नहीं। रोगसे, क्षुधासे, तृषासे, या श्रमसे पीड़ित श्रमणको देखकर साधुको उसको यथाशक्ति सहायता करनी चाहिए। रोगी, गुरु या अपनेसे बड़े या छोटे श्रमणोंकी सेवाके लिए लौकिक मनुष्योंके साथ, शुभभावपूर्वक बोलने-चालनेका प्रसंग उपस्थित हो तो बोलनेका भी निषेध नहीं है। यह सब शुभभाव युक्त चर्या श्रमण या गृहस्थके लिए कल्याणकर है, क्योंकि इससे क्रमशः मोक्षरूप परमसौख्यकी प्राप्ति होती है। अलबत्ता, शुभ कहलानेवाला राग भी पात्र-विशेषमें विप-रीत फल देता है। समान बीज भी भूमिकी भिन्नताके कारण भिन्न रूपमें परिणत हो जाता है।

और अल्पज्ञ-द्वारा प्ररूपित व्रत, नियम, अध्ययन, ध्यान और दानका आचरण करनेवाला पुरुष भी मोक्ष नहीं पाता, सिर्फ सुखरूप देव-मनुष्य-भव पाता है। जिन्हें परमार्थका ज्ञान नहीं है, और जिनमें विषय-कषाय-

की अधिकता है, ऐसे लोगोंको दान-सेवाके फल-स्वरूप हलके मनुष्यभवकी प्राप्ति होती है। जिन विषय-कषायोंको शास्त्रमें पापरूप प्रकट किया गया है, उनमें बँधा हुआ पुरुष मोक्ष किस प्रकार दिला सकता है? वही पुरुष मोक्षरूप सुमार्गका भागी हो सकता है, जो पापकर्मोंसे उपरत हो गया है, सब धर्मोंमें समभाव रखता है और जो गुण समूहका सेवन करता है। अशुभ भावोंसे हटकर शुद्ध या शुभ भावमें प्रवृत्त पुरुष लोकको तार सकते हैं; उनकी सेवा करनेवाला अवश्य ही उत्तम स्थानका भागी होता है। ( प्र० ३, ४५-६० )

**विनय** – उत्तम पात्रको देखकर खड़ा होना, वन्दन करना इत्यादि क्रियाएँ अवश्य करनी चाहिए। क्योंकि अपनेसे अधिक गुणवान्को आते देख खड़ा होना, उसका आदर करना, उसकी उपासना करना, उसका पोषण करना, उसे हाथ जोड़ना तथा उसे प्रणाम करना चाहिए, ऐसा जिन भगवान्ने कहा है। शास्त्रज्ञानमें निपुण तथा संयम, तप और ज्ञानसे परिपूर्ण श्रमणोंका, दूसरे श्रमण खड़े होकर आदर करें, उनकी उपासना करें और उन्हें नमन करें। अगर कोई श्रमण सयम, तप और ज्ञानसे युक्त है, परन्तु उसे जिन-प्ररूपित आत्मा आदि पदार्थोंमें श्रद्धा नहीं है, तो वह श्रमण कहलाने योग्य नहीं है। जो मुनि भगवान्के उपदेशके अनुसार वरतनेवाले श्रमणको देखकर द्वेषवश होकर उसका अपवाद करता है और उसके प्रति पूर्वोक्त विनय आदि क्रियाओंका प्रयोग नहीं करता, उसका चारित्र नष्ट हो जाता है। अपनेमें गुण न होनेपर भी, केवल श्रमण होने ही के कारण, जो मुनि अपनेसे अधिक गुणवान्से विनयकी आकांक्षा रखता है वह अनन्त संसारका भागी बनता है। इसी प्रकार श्रमणत्वके लिहाजसे अधिक गुणवाले मुनि, अगर हीन गुणवालेके प्रति विनय आदि क्रियाओं-का आचरण करता है, तो वह असत्य आचरण करता है और चारित्रसे च्युत होता है।

जिसे सूत्रोंके पद और अर्थका निश्चय हो गया है, जिसके कषाय

शान्त हो गये हैं, जो सदाचारमें प्रवृत्त है तथा तपस्यामें भी जो अधिक है, ऐसा मुनि भी अगर लौकिक जनोंके संसर्गको नहीं तजता तो वह संयमी नहीं हो सकता। प्रव्रज्या धारण करके भी जो निर्ग्रन्थ मुनि लौकिक कार्योंमें रचा-पचा रहता है, वह संयम और तपसे युक्त भले ही हो, तब भी उसे लौकिक ही कहना चाहिए। अतएव, जिस श्रमणको दुःखसे मुक्त होनेकी अभिलाषा हो उसे समान गुणवालेकी या अधिक गुणवालेकी संगतिमें रहना चाहिए। जैनमार्गमें रहकर भी जो पदार्थोंका स्वरूप विपरीत समझकर 'यही तत्त्व है' ऐसा निश्चय कर बैठता है, वह भविष्यमें भीषण दुःख भोगता हुआ, लम्बे समय तक परिभ्रमण करता है। मिथ्या आचरणसे रहित, पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपका निश्चय करनेवाला, और प्रशान्तचित्त मुनि परिपूर्ण श्रमणताका पात्र है और वह इस अफल संसारमें लम्बे समय तक जीवित नहीं रहता – शीघ्र मुक्तिलाभ करता है। (प्र० ३, ६१–७३)

■

# पारमार्थिक दृष्टिबिन्दु

## १. प्रास्ताविक

**दो दृष्टियाँ** – जैसे म्लेच्छ लोगोंको म्लेच्छ भाषाके बिना कोई बात नहीं समझायी जा सकती, उसी प्रकार सामान्य जनताको व्यवहारदृष्टिके बिना पारमार्थिक[1] दृष्टि नहीं समझायी जा सकती। व्यवहारदृष्टि असत्य है और शुद्ध पारमार्थिक दृष्टि सत्य है। जो जीव पारमार्थिक दृष्टिका अवलम्बन लेता है और इसी दृष्टिसे जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष, इन नौ पदार्थोंका स्वरूप समझता है, वही सम्यग्दृष्टि कहलाता है। परम भावमें स्थित अधिकारियोंको वस्तुका शुद्ध स्वरूप प्रकाशित करनेवाली पारमार्थिक दृष्टिकी ही भावना करनी चाहिए। व्यवहारदृष्टि अपर भावमें स्थित जनोंके लिए ही है। ( स० ८,११-३ )

जो दृष्टि आत्माको अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त जानती है, वह पारमार्थिक दृष्टि है। आत्मा न प्रमत्त (संसारी) है न अप्रमत्त (मुक्त) है। व्यवहारदृष्टिसे कहा जाता है कि आत्मामें दर्शन हैं, ज्ञान है और चारित्र है, किन्तु वास्तवमें न उसमें दर्शन है, न ज्ञान है और न चारित्र है, वह तो शुद्ध चैतन्य स्वभाव है। जो मनुष्य आत्माको इस रूपमें जानता है, वह समग्र जिन-शास्त्रका ज्ञाता है। (स० ६-७, १४-५)

जैसे कोई द्रव्यार्थी पुरुष राजाको जानता है, उसका निश्चय करता

---

१. पारमार्थिक दृष्टिके लिए मूलमें शुद्ध नय, निश्चय नय, या पारमार्थिक नय, शब्दोंका प्रयोग किया गया है। अनुवादमें इनके स्थानपर 'परमार्थ दृष्टि' या 'पारमार्थिक दृष्टि' शब्दका प्रयोग किया है। नय अर्थात् दृष्टि, दृष्टिकोण या दृष्टिबिन्दु।

है और फिर प्रयत्नपूर्वक उसकी सेवा करता है; उसी प्रकार मुमुक्षु पुरुष पहले जीवराजको ज्ञानी पुरुषोंसे जाने, उसका निश्चय करे और उसका सेवन करे। जबतक मोहादि अन्तरंग कर्ममें और शरीर आदि बहिरंग नोकर्ममें अहं – ममभाव है, तबतक मनुष्य अज्ञानी है। अज्ञानसे मोहित मतिवाला तथा राग-द्वेष आदि अनेक भावोंसे युक्त मूढ़ पुरुष हो, अपने साथ सम्बद्ध या असम्बद्ध शरीर, स्त्री-पुत्रादि, धन-धान्यादि तथा ग्राम-नगर आदि सचित्त, अचित्त या मिश्र परद्रव्योंमें 'मैं यह हूँ, मैं इनका हूँ, यह मेरे हैं, यह मेरे थे, मैं इनका था, यह मेरे होंगे, मैं इनका होऊँगा' इस प्रकारके झूठे विकल्प किया करता है। परन्तु सत्य बात जाननेवाले सर्वज्ञ पुरुषोंने ज्ञानसे जाना है कि जीव सदैव चैतन्यस्वरूप तथा बोधव्यापार (उपयोग) लक्षणवाला है। आत्मा कहाँ जड़ द्रव्य है कि तुम जड़ पदार्थको 'यह मेरा है' इस प्रकार करते हो? अगर जीव जड़ पदार्थ बन सकता होता अथवा जड़ पदार्थ चेतन हो सकते, तो यह कहा जा सकता था कि 'यह जड़ पदार्थ मेरा है।' (स० १७-२५)

**ज्ञान और आचरण** – ज्ञानी पुरुष समस्त पर-भावोंको पर जानकर उनका त्याग करते हैं। अतएव 'जानना अर्थात् त्यागना' ऐसा नियमसे समझना चाहिए। जैसे लौकिक व्यवहारमें किसी वस्तुको परायी समझकर मनुष्य उसे त्याग देता है, इसी प्रकार ज्ञानी जीव पर-पदार्थोंको पराया जानकर उन्हें त्याग देते हैं। वह जानते हैं कि मोह आदि आन्तरिक भावों या आकाश आदि बाह्यभावोंसे मुझे किसी प्रकारका लेन-देन नहीं है। मैं तो केवल एक, शुद्ध तथा सदैव अरूपी हूँ; अन्य परमाणु मात्र भी मेरा अपना नहीं है। (स० ३४-८)

## २. जीव

**मिथ्यादृष्टि** – आत्माको न जाननेवाले और आत्मासे भिन्न वस्तुको आत्मा कहनेवाले कतिपय मूढ़ लोक (राग-द्वेषादि) अध्यवसायको आत्मा

मानते हैं या कर्मको आत्मा कहते हैं। दूसरे लोग तीव्र-मन्द प्रभावसे भिन्न-भिन्न प्रतीव होनेवाली रागादि वृत्तियोंकी परम्पराको आत्मा मानते हैं। कुछ लोग शरीरको आत्मा कहते है और कोई-कोई कर्मविपाकको। कतिपय लोग तीव्र-मंद गुणोंवाली कर्मकी शक्तिको आत्मा मानते हैं और कोई-कोई कर्मयुक्त जीवको आत्मा कहते हैं। कुछ लोग ऐसे हैं जो कर्मोंके संयोगको ही जीव कहते हैं। इसी प्रकार अन्य दुर्बुद्धिवाले पुरुष आत्माका भिन्न-भिन्न रूपमें वर्णन करते हैं। यह सब परमार्थवादी नहीं हैं ( स० ३९-४३ )

**आत्मा-अनात्माका विवेक** – यह सब अध्यवसान आदि भाव जड़ द्रव्यके संयोगसे उत्पन्न होते हैं, केवलज्ञानियोंने ऐसा कहा है। फिर उन्हें जीव कैसे माना जा सकता है? आठ प्रकारका कर्म जिसके परिणामस्वरूप प्राप्त होनेवाला फल दुःख नामसे प्रसिद्ध है—सब जड़ द्रव्यरूप-पुद्गलमय है। जहाँ अध्यवसान आदि भाव जीवके कहे हैं, वहाँ व्यवहार दृष्टिका कथन समझना चाहिए, जैसे सेनाके बाहर निकलनेपर राजाका बाहर निकलना कहलाता है। जीव तो अरस, अरूप, अगन्ध, अस्पर्श, अव्यक्त (इन्द्रिय-अगोचर), अशब्द, अशरीर, सब प्रकारके लिंग ( चिह्न ), आकृति ( संस्थान ) और बाँध ( संहनन ) से रहित तथा चेतना गुणवाला है। उसमें राग नहीं है, द्वेष नहीं है, मोह नहीं है। प्रमाद आदि कर्मबन्धनके द्वार ( प्रत्यय ) भी उसमें नहीं हैं। ज्ञानावरणीय आदि नोकर्म भी उसके नहीं है। विभिन्न क्रमसे विकसित ( कर्मकी ) शक्तियोंका कर्म अथवा शरीर आदि समूह, शुभ-अशुभ रागादि विकल्प, शारीरिक, मानसिक या वाचनिक प्रवृत्तियाँ, कषायोंकी तीव्रता, अतीव्रता या क्रमहानि, विभिन्न देह तथा मोहनीय कर्मकी क्षय-वृद्धिके अनुसार होनेवाले आध्यात्मिक विकासक्रमरूप गुणस्थान[1],

---

१. 'गुण' अर्थात् आत्माकी स्वाभाविक शक्तियाँ और 'स्थान' अर्थात् उन शक्तियोंकी तर-तमतावाली अवस्थाएँ। आत्माके सहज गुणोंपर चढ़े हुए आवरण

यह सब भी जीवके नहीं हैं, क्योंकि यह सब जड़-पुद्गल-द्रव्यके परिणाम हैं। यह सब भाव व्यवहार-दृष्टिसे जीवके कहलाते हैं। इनके साथ जीवका क्षीर-नीरके समान सम्बन्ध है। जैसे क्षीर और नीर एक-दूसरेसे मिले हुए दिखाई देते हैं, फिर भी क्षीरका क्षीरपन नीरसे जुदा है; इसी प्रकार यह सब भाव जीवसे भिन्न हैं। कारण यह है कि जीवका बोधरूप गुण जड़ भावों तथा जड़ द्रव्योंसे अलग है। जिस रास्ते-पर लुटेरे सदा लूटते रहते हैं, उसके विषयमें व्यावहारिक लोग कहते हैं—'यह रास्ता लूटा जाता है।' यद्यपि रास्ता नहीं लूटा जाता। इसी प्रकार जीवमें कर्म और नोकर्मका वर्ण देखकर व्यवहारसे कहा जाता है कि यह जीवका वर्ण है। इसी प्रकार गन्ध और रस आदिके सम्बन्धमें समझना चाहिए। संसारस्थ जीवोंमें ही वर्णादि पाये जाते हैं, संसार-प्रमुक्त जीवोंमें यह सब कुछ नहीं रहता। संसार अवस्थामें भी यह वर्ण आदि व्यवहार-दृष्टिसे ही जीवके हैं, परमार्थ दृष्टिसे नहीं। संसार अवस्थामें भी वर्ण आदि भाव यदि वास्तवमें जीवके माने जायें तो संसारस्थ जीव वर्णादि-युक्त ठहरेगा; और वर्ण आदिका होना जड़-पुद्गल-द्रव्यका लक्षण है। फिर इन दोनोंमें भेद ही नहीं रहेगा। ऐसी दशामें निर्वाण-प्राप्त जीव भी पुद्गल द्रव्यसे अलग कैसे हो सकेगा? अतएव क्या सूक्ष्म और क्या स्थूल सभी देहोंके पुद्गलमय जड़कर्मसे उत्पन्न होनेके कारण व्यवहारदृष्टि-से ही जीव कहा जा सकता है। (स० ४४-६८)

## ३. कर्त्ता और कर्म

**कर्मबन्धका प्रकार** – अज्ञानी जीव जबतक आत्मा और क्रोधादि विकारों ( आस्रव ) के बीच अन्तर नहीं समझता, तबतक वह क्रोधादिमें

---

ज्यों-ज्यों कर्म होते जाते हैं, त्यों-त्यों गुण अपने शुद्ध स्वरूपमें प्रकट होते जाते हैं। शुद्ध स्वरूपकी प्रकटताकी न्यूनाधिकता ही 'गुणस्थान' कहलाती है। गुणस्थान चौदह हैं।

प्रवृत्ति करता है। इस कारण कर्मोंका संचय होता है। सर्वज्ञोंने जीवको कर्मोंका बन्धन उसी प्रकार कहा है। परन्तु जब जीवको आत्मा और क्रोधादि विकारोंके बीच भेद मालूम होने लगता है, तब उसे कर्मका बन्ध नहीं होता। क्योंकि जीव जब विकारोंकी अशुचिता (जड़ता), विपरीतता, अध्रुवता, अनित्यता, अशरणता तथा दुःखहेतुता जान लेता है, तब उनसे निवृत्त हो जाता है। वह समझने लगता है – मैं अद्वितीय हूँ, मैं शुद्ध हूँ, मैं निर्मल हूँ – तथा ज्ञान-दर्शनसे पूर्ण हूँ, अतएव इन शुद्ध भावोंमें स्थित तथा लीन होकर मैं समस्त विकारोंका क्षय करूँ। (स० ६८-७४)

आत्मा कर्मोंके परिणामका तथा नोकर्मोंके परिणामका कर्त्ता नहीं है, ऐसा जो जानता है, वही ज्ञानी है। विविध प्रकारके जड़ भौतिक कर्मों तथा उनके फलको जान लेनेके पश्चात् ज्ञानी पुरुष पर-द्रव्योंके रूपमें स्वयं परिणत नहीं होता, उन्हें ग्रहण नहीं करता और न तद्रूपमें उत्पन्न होता है। क्योंकि वह अपने अनेकविध परिणामोंको भिन्न समझता है। (स० ७५-९)

**कर्मबन्धके कारण** – अनादि कालसे अपने साथ बँधे हुए मोहनीय कर्मके कारण, वस्तुतः शुद्ध एवं निरंजन जीव, मिथ्यात्व, अज्ञान तथा अविरतिभाव इन तीन भावोंमें परिणत होता आया है। सामान्यतया मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, यह चार ही कर्मबन्धके कारण कहलाते हैं। अतत्त्वमें श्रद्धा और तत्त्वमें अश्रद्धा होना मिथ्यात्व है। विषय-कषायसे अविरमण-अनिवृत्तिको अविरति या असंयम कहते हैं। क्रोधादिसे होनेवाली जीवकी कलुषता कषाय कहलाती है। और मन, वचन, कायकी हेय एवं उपादेय शुभाशुभ प्रवृत्तिमें जो उत्साह है, वह योग कहलाता है। इन सबके कारण कर्म-रूपमें परिणत होने योग्य पुद्‌गलद्रव्य (कार्मण जातिके पुद्‌गल) ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मोंके रूपमें परिणत होकर जीवके साथ बँध जाते हैं। और इन कर्मोंके बन्धके कारण जीव फिर अज्ञान आदि विपरीत भावोंमें परिणत होता है। (स०

१३२–६ ) परन्तु यह सब जड़कर्मके परिणाम हैं, अतएव अचेतन हैं। जैसे चैतन्य जीवसे अनन्य (अभिन्न) है, उसी प्रकार जड़ क्रोध आदि भी अगर अनन्य होते, तो जीव और अजीव दोनों एक रूप हो जाते। फिर तो जीव ही अजीव है, ऐसा कहनेका अवसर भी आ जाता। ( स० १०९–१५ )

अलबत्ता, पुद्गल द्रव्य स्वयं कर्मरूपमें परिणत होकर जीवके साथ न बँधता होता तो संसारके अभावका ही प्रसंग आता। अथवा सांख्य मतकी स्थितिकी परिस्थिति हो जाती। इसी प्रकार जीव भी यदि स्वयं क्रोधादि रूपमें परिणत होकर कर्मके साथ बँधता न होता, तो वह अपरिणामी ठहरता और उल्लिखित संसाराभाव आदि दोष आ उपस्थित होते। अतएव यह समझना चाहिए कि पुद्गलद्रव्य स्वयं परिणमनशील होनेके कारण स्वयं ही ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंके रूपमें परिणत होता है और इसी प्रकार जीव भी स्वयं क्रोध-भावमें परिणत होकर क्रोध रूप हो जाता है। ( स० ११६–२५ ) परन्तु इतना याद रखना चाहिए कि ज्ञानीका भाव ज्ञानमय होता है; अतः कर्मोंके कारण उत्पन्न होनेवाले विभावोंको वह अपनेसे भिन्न मानता है। परन्तु अज्ञानीके भाव अज्ञानमय होते हैं, इसलिए वह कर्म-जन्य भावोंको अपनेसे अभिन्न मानकर तद्रूपमें परिणत होकर नवीन कर्मबन्धन प्राप्त करता है। ज्ञानीको यह कर्मबन्धन नहीं होता। (स० १२६–३१)

**पारमार्थिक दृष्टि** – व्यवहारदृष्टिवाले ही कहते हैं कि जीवको कर्मका बन्ध होता है, स्पर्श होता है; परन्तु शुद्ध दृष्टिवालोंके कथनानुसार जीवको न कर्मबन्ध होता है, न कर्मस्पर्श ही होता है। लेकिन बन्ध होना, या न होना, यह सब दृष्टियोंके झगड़े हैं। आत्मा तो समस्त विकल्पोंसे पर है। वही [1]समयसार है और इस समयसारको ही सम्यग्दर्शन और ज्ञान कह सकते हैं। ( स० १४१–४४ )

१. 'समयसार' यह ग्रन्थ या उसका सिद्धान्त। अथवा, समयका अर्थ है – आत्मा, आत्माका सार अर्थात् शुद्ध स्वरूप 'समयसार' कहलाता है।

## ४. पुण्य-पाप

**शुभाशुभ कर्म दोनों अशुद्ध** – लोग समझते हैं, अशुभ कर्म ही कुशील है और शुभकर्म सुशील है। परन्तु अगर शुभकर्म भी संसारमें ही प्रवेश कराता है तो उसे सुशील कैसे कहा जा सकता है? जैसे लोहेकी सांकल मनुष्यके बन्धनका कारण है, उसी प्रकार सोनेकी सांकल भी। शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके कर्म जीवको बद्ध करते हैं। परमार्थ दृष्टिसे शुभ और अशुभ – दोनों कर्म कुशील हैं। उनका संसर्ग या उनपर राग करना उचित नहीं। कुशीलपर राग करनेवालेका विनाश निश्चित है। कुशील पुरुषको पहचान लेनेके पश्चात् चतुर पुरुष उसका संसर्ग नहीं करता, उसपर राग भी नहीं रखता; इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष कर्मोंके शील-स्वभावको जानकर उनका संसर्ग तज देता है और स्वभावमें लीन हो जाता है। ( स० १४५-५० )

**शुद्ध कर्म** – विशुद्ध आत्मा ही परमार्थ है, मुक्ति है, केवलज्ञान है, मुनिपन है। उस परम स्वभावमें स्थित मुनि निर्वाण प्राप्त करते हैं। उस परमार्थमें स्थित हुए बिना जो भी तप करते हैं, व्रत धारण करते हैं, वह सब अज्ञान है, ऐसा सर्वज्ञ कहते हैं। परमार्थसे दूर रहकर व्रत, शील, तपका आचरण करनेवाला निर्वाण-लाभ नहीं कर सकता। परमार्थसे बाहर रहनेवाले अज्ञानी सच्चा मोक्षमार्ग न जाननेके कारण, संसार भ्रमण-के हेतु रूप पुण्यकी ही अभिलाषा करते हैं। (स० १५१–४ )

पण्डित जन पारमार्थिक वस्तुका त्याग करके व्यवहारमें ही प्रवृत्ति किया करते हैं, परन्तु यतिजन परमार्थका आश्रय लेकर कर्मोंका क्षय कर डालते हैं। मैल लगनेसे वस्तुकी स्वच्छता छिप जाती है, इसी प्रकार मिथ्यात्वरूपी मैलसे जीवका सम्यग्दर्शन आच्छादित हो जाता है, अज्ञान-रूपी मैलसे सम्यग्ज्ञान ढँक जाता है और कषाय-मलसे सम्यक्-चारित्र छिप जाता है। जीव-स्वभावसे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है; परन्तु कर्म-रजसे

आच्छादित होकर संसारको प्राप्त होकर अज्ञानी बन जाता है ( स० १५५–६३ )

## ५. आस्रव

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, यह चार आस्रव ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंके बन्धके कारण हैं। परन्तु जीवके राग-द्वेष आदि भाव उनके भी कारण हैं। अतएव वस्तुतः राग, द्वेष और मोह ही आस्रव अर्थात् कर्म-बन्धके द्वार हैं। ( स० १६४–५ )

जिस किसीको सम्यग्दर्शन हो गया है, उसे आस्रव या बन्ध नहीं होता, क्योंकि जीवका रागादियुक्त भाव ही बन्धका कारण है। जैसे पका फल वृक्षसे टूटकर नीचे गिर पड़ता है और फिर कभी डण्ठलमें जाकर नहीं लगता, इसी प्रकार जीवका रागादि भाव एक बार गल जानेके अनन्तर फिर कभी उदित नहीं होता। अज्ञान अवस्थामें पहले बाँधे हुए कर्म भी उसके लिए मिट्टीके पिण्ड सरीखे हो जाते हैं और कर्म शरीरके साथ बँधे रहते हैं। (स० १६६–९)

**ज्ञानी और बन्ध** – पूर्वोक्त मिथ्यात्व आदि चार आस्रव उदयमें आकर जीवके ज्ञान और दर्शनको रागादि ( अज्ञान ) भावोंके रूपमें परिणत कर देते हैं, तभी जीव अनेक प्रकारके कर्मोंका बन्ध करता है। जबतक जीवका ज्ञानगुण हीन अर्थात् कषाययुक्त रहता है, तबतक वह विपरीप रूपमें परिणत होता रहता है। परन्तु जीव जब कषायोंका त्याग करके सम्यक्त्व प्राप्त करता है, तब विभाव परिणमन बन्द हो जाता है और कर्म-बन्धन नहीं होता। (स० १७०-२)

जैसे बालिका स्त्री, अपनी विद्यमानताके ही कारण पुरुषके लिए उपभोग्य नहीं होती, किन्तु वह जब तरुणी होती है तब ( रागादियुक्त ) पुरुषके साथ उसका सम्बन्ध होता है, इसी प्रकार पूर्वबद्ध कर्म जब फलोन्मुख होते हैं, तब जीवके नवीन रागादि भावके अनुसार सात या आठ कर्मोंका

नया बन्ध होता है। किन्तु रागादिके अभावमें पूर्वकर्म अपनी सत्ता मात्रसे नवीन कर्मबन्धन नहीं कर सकते। जैसे पुरुषका खाया हुआ आहार, उदराग्निसे संयुक्त होनेपर ही मांस, वसा और रुधिर आदिके रूपमें परिणत होता है, उसी प्रकार जो जीव रागादि अवस्थायुक्त है उसके पूर्व कर्म ही अनेक प्रकारके नवीन कर्म बाँधते हैं; ज्ञानीके पूर्वकर्म नहीं। (स० १७३-८०)

## ६. संवर

चेतना चेतनामें रहती है; क्रोधादिमें कोई चेतना नहीं है। क्रोधमें ही क्रोध है; चेतनामें कोई क्रोध नहीं है। इसी प्रकार आठ प्रकारके कर्म और शरीररूप नोकर्ममें भी चेतना नहीं है; तथा चेतनामें कर्म या नोकर्म नहीं हैं। इसीको अविपरीत ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान जीवको जब प्राप्त होता है, तब वह रागादि भावोंमें परिणत नहीं होता। सुवर्ण जितना चाहे तपाया जाय, वह स्वर्णपन नहीं तजता, इसी प्रकार ज्ञानी कर्मोंके उदयसे कितना ही तप्त क्यों न हो, मगर वह अपने स्वभाव ज्ञानीपनको नहीं तजता। ज्ञानी अपने शुद्ध स्वरूपको जानता है। अज्ञानी अन्धकारमें डूबा हुआ है। वह आत्माका स्वरूप नहीं समझता। वह रागादि विकारों-को ही आत्मा मानता है। (स० १८१-६)

**सच्चा संवर** – अपने-आपको, अपनी ही सहायतासे, पुण्य-पाप रूपी प्रवृत्तियोंसे रोककर, अपने दर्शन-ज्ञानरूप स्वभावमें स्थिर होकर, पर-पदार्थोंकी वांछासे विरत होकर, सर्व संगका त्याग करके जो पुरुष आत्माका, आत्मा-द्वारा ध्यान करता है; तथा कर्म एवं नोकर्मका ध्यान न करता हुआ आत्माके एकत्वका ही चिन्तन करता है और अनन्यमय अथवा दर्शन-ज्ञानमय बन जाता है, वह कर्मरहित शुद्ध आत्माको शीघ्र उपलब्ध-कर लेता है। (स० १८७-८)

मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग—यह चार अध्यवसान आत्मा-

के रागादि भावोंके कारण हैं। ज्ञानीमें इन कारणोंका अभाव होता है, अतएव उसे आस्रव-निरोधकी प्राप्ति होती है। कर्मका अभाव हो जानेपर उसे नोकर्म अर्थात् शरीरका निरोध प्राप्त होता है और नोकर्मके निरोधसे संसारका निरोध प्राप्त होता है। (स० १९०-२)

## ७. निर्जरा

**ज्ञानी और भोग** – ज्ञानी पुरुष इन्द्रियों-द्वारा ( पूर्वकर्मवशात् ) जड़-चेतन द्रव्योंका जो उपभोग करता है, वह सब उसके लिए निर्जरा (कर्मक्षय)का निमित्त बन जाता है। उन द्रव्योंका उपभोग करते समय उसे जो सुख-दुःख होता है, उसका वह अनुभव करता है। कर्म अपना फल देकर खिर जाता है। जैसे कुशल वैद्य चिकित्सापूर्वक विष भक्षण करनेपर भी मरता नहीं है, उसी प्रकार पूर्वकर्मोंके प्राप्त फलको भोगनेपर भी ज्ञानी पुरुष कर्म-बद्ध नहीं होता। जैसे अरुचिपूर्वक मद्यपान करनेवाला पुरुष मत्त नहीं होता, उसी प्रकार द्रव्योंके उपभोगमें अनासक्त ज्ञानी भी बन्धनको प्राप्त नहीं होता। कोई पुरुष विषयोंका सेवन करता हुआ भी वस्तुतः विषयोंका सेवन नहीं करता। और कोई-कोई विषयोंका सेवन न करता हुआ भी वस्तुतः सेवन करता है। ठीक इसी प्रकार जैसे दास घरका काम-काज करता हुआ भी मनमें जानता है कि वह इस घरका मालिक नहीं है (स० १९३-७)

ज्ञानियोंने कर्मके विविध परिणाम बखाने हैं। परन्तु ज्ञानी पुरुष जानता है कि—'कर्मजन्य भाव आत्माके स्वभाव नहीं हैं। मैं एक चेतन-स्वरूप हूँ। राग जड़ कर्म है। उसीकी बदौलत यह रागभाव उत्पन्न होता है। लेकिन यह मेरा स्वभाव नहीं है। मैं तो एकमात्र चेतनास्वरूप हूँ।' इस प्रकार वस्तुतत्त्वका ज्ञाता ज्ञानी विविध भावोंको कर्मका परिणाम समझकर त्याग देता है। जिसमें अंशमात्र भी राग विद्यमान है वह शास्त्रोंको भले ही जानता हो, मगर आत्माको—अपने-आपको—नहीं

पहचानता और चूँकि वह आत्माको नहीं जानता, अतएव अनात्माको भी नहीं जानता। फिर उसे ज्ञानी किस प्रकार कहा जा सकता है? (स० १९७-२०२)

कर्मके निमित्तसे आत्मामें उत्पन्न होनेवाले समस्त विभावोंका त्याग करके, स्वभावभूत, चेतनरूप, नियत, स्थिर और एक भावको ही ग्रहण करो। जहाँ मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान —यह सब भेद हट जाते हैं और एक ही पद शेष रहता है, वही परमार्थ है। उसे पाकर मनुष्य निर्वृत होता है। किसी भी साधनका प्रयोग करके ज्ञानगुणविहीन पुरुष इस पदको नहीं पा सकते। तुम्हें अगर कर्मपरिमोक्षकी इच्छा है तो तुम उसी पदको स्वीकार करो। उसी पदमें निरन्तर लीन रहो। उसीमें नित्य सन्तुष्ट रहो। उसीमें तृप्त रहो। ऐसा करनेसे तुम्हें उत्तम सुख प्राप्त होगा। आत्माको ही अपना निश्चित धन जाननेवाला ज्ञानी पर-पदार्थको अपना क्यों कहेगा? अगर पर-द्रव्य मेरा होता तो मैं उसके समान जड़ बन जाता; मैं तो ज्ञाता ही हूँ, अतएव किसी भी पर-द्रव्यका परिग्रह मुझे नहीं होना चाहिए। भले ही उसका छेदन हो, भेदन हो, हरण हो, नाश हो या कहीं भी वह चला जाये, वह परद्रव्य मेरा तो है ही नहीं। ज्ञानी अपरिग्रही तथा निरीह होनेके कारण न धर्मकी इच्छा करता है, न अधर्मकी इच्छा करता है, न खान-पानकी इच्छा करता है और न अन्य किसी पदार्थकी इच्छा करता है। अपने ज्ञायक-स्वभावमें नियत वह ज्ञानी सर्वत्र निरालम्ब रहता है। (स० २०३-१४)

प्राप्त विषयभोगोंमें उसकी हेयबुद्धि है और अनागत भोगोंकी उसे कांक्षा नहीं है, कर्मके निमित्तसे आत्मामें उत्पन्न होनेवाले और समय-समय नष्ट होनेवाले वेद्य-वेदक भावोंको वह जानता है परन्तु उनकी कभी आकांक्षा नहीं करता। बन्ध और उपभोगके निमित्तभूत संसार तथा देह-विषयक अध्यवसानोंमें ज्ञानीको राग नहीं होता। कीचड़में पड़ा हुआ भी सोना कटता नहीं है, उसी प्रकार समस्त पदार्थोंमें रागहीन ज्ञानी कर्मोंके

मध्यमें रहनेपर भी लिप्त नहीं होता। परन्तु सर्व द्रव्योंमें रागी अज्ञानी कीचड़में पड़े लोहेके समान कर्म-रजसे लिप्त होता है। शंख[1] विविध जड़-चेतन अथवा मिश्र द्रव्योंका भक्षण करता है, तथापि उसका श्वेतभाव कभी काला नहीं होता; इसी प्रकार जड़, चेतन और मिश्र द्रव्योंका उपभोग करनेवाले ज्ञानीका ज्ञान भी अज्ञानमें परिणत नहीं होता। परन्तु वही शंख जब स्वयमेव शुक्लताका त्याग करके कृष्णतामें परिणत होता है, तब उसकी शुक्लता नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार ज्ञानी जब ज्ञानस्वभावका त्याग करके अज्ञानरूप परिणत होता है, तब वह अज्ञानी बन जाता है। ( स० २१५-२३ )

**सम्यग्दृष्टिकी व्याख्या** – अगर कोई पुरुष आजीविकाके हेतु राजाकी सेवा करता है तो राजा उसे विविध सुखोत्पादक भोग प्रदान करता है; इसी प्रकार जो जीव सुखके लिए कर्म-रजका सेवन करता है उसे वह विविध सुखोत्पादक भोग देता है। परन्तु वही पुरुष आजीविकाके हेतु राजाका सेवन न करे तो राजा भी उसे सुखोत्पादक भोग नहीं देता; इसी प्रकार जो सम्यग्दृष्टि पुरुष विषयभोगके लिए कर्म-रजका सेवन नहीं करता, उसे वह विविध सुखोत्पादक भोग नहीं देता ( स० २२४–७ )

सात प्रकारका भय[2] न रहनेके कारण जो निर्भय बन गया है, वही निःशंक जीव सम्यग्दृष्टि है।

कर्मबन्धन करानेवाले मोहके कारणभूत मिथ्यात्व आदि चार पादोंको जो छेद डालता है, वह निःशंक आत्मा सम्यग्दृष्टि है।

कर्मफलोंकी तथा सब प्रकारके धर्मोंकी जो कांक्षा नहीं करता, वह निष्कांक्ष जीव सम्यग्दृष्टि है।

---

१. शंख द्वीन्द्रिय जीव है।

२. इहलोक, परलोक, वेदना, अरक्षा, अगुप्ति, मरण और आकस्मिक ये सात भय हैं।

समस्त पदार्थोंके धर्मोंमें जो जुगुप्सा नहीं करता, वह निर्विचिकित्स आत्मा सम्यग्दृष्टि है।

सब भावोंमें जो असंमूढ़ है तथा यथार्थ दृष्टिवाला है, वह अमूढ़ आत्मा सम्यग्दृष्टि है।

सिद्धोंकी भक्तिसे युक्त तथा आत्माके वि-धर्मोंका विनाशक आत्मा सम्यग्दृष्टि है।

उन्मार्गमें जाते अपने आत्माको जो सन्मार्गमें स्थापित करता है, वह आत्मा सम्यग्दृष्टि है।

मोक्षमार्गके साधक ज्ञान, दर्शन और चारित्रपर जिसका वात्सल्य-भाव है, वह आत्मा सम्यग्दृष्टि है।

जिनेश्वरोंके ज्ञानकी आराधना करनेवाला जो जीव विद्यारूपी रथपर आरूढ़ होकर मनोरथ-मार्गोंमें विचरण करता है, वह जीव सम्यग्दृष्टि है। ( स० २२९-३६ )

## ८. बन्ध

**बन्धका कारण** – कोई पुरुष शरीरपर तेल चुपड़कर धूलवाली जगहमें खड़ा है। वह शस्त्रादिसे ताड़, केला, बाँस वगैरह जड़-चेतन पदार्थोंकी काट-छाँट कर रहा है। उसके शरीरपर रज क्यों चिपकती है, इस बातका विचार करो। रज उसकी शारीरिक चेष्टाके कारण नहीं किन्तु शरीरपर चुपड़े हुए तेलकी चिकनाईके कारण चिपकती है, यह बात स्पष्ट है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव विविध प्रकारकी शारीरिक-मानसिक चेष्टाएँ करता हुआ रागादि भावोंके कारण कर्म-रजसे लिप्त होता है। पूर्वोक्त कायिक चेष्टावाले पुरुषके शरीरपर तेलकी चिकनाई न हो तो, सिर्फ कायिक चेष्टा मात्रसे धूल नहीं चिपक सकती, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुष अनेक प्रकारकी प्रवृत्तियाँ करता हुआ भी अगर रागादि भाव-युक्त न हो तो उसे कर्म-रज नहीं चिपकती ( स० २३७-४६ )।

जो ऐसा मानता है कि 'मैं दूसरोंकी हिंसा करता हूँ तथा दूसरे मेरी हिंसा करते हैं,' वह मूढ़ अज्ञानी है। ज्ञानीका विचार इससे विपरीत होता है। जिनेश्वरोंने कहा है – आयुकर्मका क्षय होनेपर जीवोंका मरण होता है। अगर तुमने उनके आयुकर्मका हरण नहीं किया तो उनकी मृत्युके कारण तुम किस प्रकार हो सकते हो? इसी प्रकार दूसरे तुम्हारी मृत्यु कैसे कर सकते हैं? इसके अतिरिक्त जो ऐसा मानता है कि 'मैं दूसरोंको जीवित रखता हूँ या दूसरे मुझे जीवित रखते हैं,' वह भी मूढ़ और अज्ञानी है। क्योंकि सर्वज्ञोंका कथन है कि प्रत्येक जीव अपने-अपने आयु-कर्मके उदयसे जीवित रहता है। अगर तुम दूसरे जीवोंको आयुकर्म नहीं दे सकते तो तुमने उन्हें कैसे जिलाया? और दूसरोंने तुम्हें कैसे जिलाया? इसी प्रकार सब जीव अपने-अपने शुभाशुभ कर्मके कारण सुखी या दुःखी हो रहे हैं। अगर तुम उन्हें शुभ या अशुभ कर्म नहीं दे सकते तो उन्हें सुखी या दुःखी कैसे बना सकते हो? इसी प्रकार दूसरोंने तुम्हें सुखी या दुःखी किस प्रकार बनाया है? अतएव 'मैं दूसरोंको मारता हूँ, जिलाता हूँ या सुखी-दुःखी करता हूँ', ऐसी बुद्धि मिथ्या है। इसी मिथ्या बुद्धिसे तुम शुभाशुभ कर्मका बन्ध करते हो। जीव मरें या न मरें, परन्तु मारनेका जो अध्यवसाय या बुद्धि है, वही वास्तवमें बन्धका कारण है। यही बात असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रहके सम्बन्धमें समझनी चाहिए। अध्यवसाय वस्तुका अवलम्बन करके उत्पन्न होता है और इस अध्यवसायसे – वस्तुसे नहीं – जीवको बन्ध होता है। (स० २४५-६५)

जीव अपने अध्यवसायसे ही पशु, नारक, देव, मनुष्य तथा विविध पाप, पुण्य, धर्म, अधर्म, जड़, चेतन, लोक और अलोक आदि भावोंके रूपमें परिणत होता है। जिनमें इस प्रकारके अध्यवसाय नहीं हैं, वह सब मुनि शुभ या अशुभ कर्मसे लिप्त नहीं होते। (स० २६६-२७०)

बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव, परिणाम –

यह सब शब्द एकार्थक समझने चाहिए। ( स० २७१ )

**पारमार्थिक दृष्टि** – इस प्रकार व्यवहारदृष्टिका परमार्थदृष्टिसे निषेध हो जाता है। जो मुनि पारमार्थिक दृष्टिका अवलम्बन करते हैं, वे निर्वाण पाते हैं। अगर कोई मनुष्य जिनेन्द्र भगवान्-द्वारा उपदिष्ट व्रत, समिति, गुप्ति, शील, तप आदिका आचरण करता हो, फिर भी मिथ्यादृष्टि और अज्ञानी ही हो तो वह मुक्त नहीं हो सकता। शुद्धात्मस्वरूपपर जिसे श्रद्धा नहीं है और इसीलिए जिसे मोक्ष-तत्त्वपर भी श्रद्धा नहीं है, ऐसा अभव्य पुरुष, शास्त्रोंका चाहे जितना पाठ करे किन्तु इससे उसे कुछ भी लाभ नहीं होता। क्योंकि वह पुरुष काम-कामी है। वह धर्मपर श्रद्धा, प्रतीति, रुचि आदि जो भी कुछ करता है वह भोगके निमित्त ही करता है, कर्मक्षयके निमित्त नहीं। व्यवहारदृष्टिसे आचारांग आदि शास्त्र, ज्ञान कहलाते हैं, जीवादि तत्त्व दर्शन कहलाते हैं और छह जीव-वर्गोंकी रक्षा करना चारित्र कहलाता है। परन्तु वास्तवमें आत्मा ही मेरा ज्ञान है, आत्मा ही मेरा दर्शन है और आत्मा ही मेरा चारित्र है; आत्मा ही मेरा प्रत्याख्यान ( त्याग ) है, आत्मा ही मेरा संवर है और आत्मा ही मेरा योग है। ( स० २७२-७ )

स्फटिक मणि परिणमनशील होनेपर भी अपने-आपसे ही लाल आदि रंगोंके रूपमें परिणत नहीं होती, अथवा अपने-आप ही लाल आदि रंगोंके रूपमें होनेवाली परिणतिका निमित्त नहीं होती। उसके पास कोई रंगीन वस्तु आती है तब उसका संसर्ग पाकर वह अपने शुद्ध स्वरूपसे च्युत होती है और उसी वस्तुके रंगकी हो जाती है। इसी प्रकार शुद्ध आत्मा स्वतः परिणमनशील होनेपर भी अपने-आप रागादि भावोंके रूपसे परिणत नहीं होता और न अपने-आप रागादि-परिणतिका निमित्त ही होता है; परन्तु परद्रव्य जो जड़कर्म है वह रागादि रूपमें परिणत होकर आत्माके रागादि भावोंका निमित्त होता है; और ( शुद्ध स्वभावसे च्युत हुआ अविवेकी ) आत्मा रागादिभाव रूपमें परिणत होता है। आत्मा अपने-आपसे राग,

द्वेष, मोह या कषाय वगैरह भावोंको नहीं करता, अतएव वह उन भावोंका कर्ता नहीं है। जो विवेकी पुरुष स्व-स्वभावको जानता है, वह कर्मोदयके निमित्तसे होनेवाले भावोंको अपनेसे पर समझकर, तद्-रूप परिणमन नहीं करता – उन्हें अपना नहीं मानता। वह उनका मात्र ज्ञाता रहता है। परन्तु जो अज्ञानी रागादिको पर न मानकर आप-रूप मानता है या तद्-रूपमें परिणत होता है वह पुनः बन्धका पात्र होता है। अर्थात् जो आत्मा राग, द्वेष, कषाय आदि रूप जड़-कर्म उदय आनेपर स्वभावच्युत होकर, उन कर्मोंके उदयसे होनेवाले रागादि भावोंको आप-रूप ( आत्मासे अभिन्न ) मानकर तद्-रूप परिणत होता है वह फिर रागादि उत्पन्न करनेवाले जड़ कर्मोंसे बद्ध होता है। ( स० २७८-८२ )

**आत्मा बन्धका कर्ता नहीं** – इस विवेचनसे प्रतीत होगा कि कर्म-बन्धका कारण रागादि है और रागादिका कारण वास्तवमें कर्मोंका उदय या परद्रव्य है; ज्ञानी आत्मा स्वयं नहीं। शास्त्रमें अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यानके भाव और द्रव्यके भेदसे दो भेद[1] कहे गये हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि आत्मा स्वतः रागादि भावोंका कर्ता नहीं है।

"शास्त्रमें[2] प्रत्येक दोष द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकारका बतलाया गया है। इसका यही अर्थ है कि जीवगत प्रत्येक विभाव-दोषकी उत्पत्तिका कारण पर-द्रव्य है। उदाहरणार्थ – भाव-अप्रतिक्रमण दोषका कारण द्रव्य-अप्रतिक्रमण है। अगर जीव स्वयमेव अपने रागादि विभावोंका कारण होता तो प्रत्येक दोषके 'द्रव्य' और 'भाव' यह दो भेद करनेका कोई अर्थ

---

१. बाह्य जड पदार्थ–विषय–'द्रव्य' है और उससे होनेवाला जीवगत रागादिभाव 'भाव' है। पूर्वानुभूत विषयका अत्याग–उसमें ममता–यह द्रव्य-अप्रतिक्रमण है; और उस विषयके अनुभवसे उत्पन्न हुए भावोंमें ममता – ममताका अत्याग-भाव अप्रतिक्रमण है। भावी विषयोंके अनुभवसे होनेवाले भावोंमें ममता होना भाव-अप्रत्याख्यान है।

२. यह पैराग्राफ मूलका नहीं है।

ही नहीं रहता। इसके अतिरिक्त दूसरी आपत्ति यह है कि आत्मा स्वयमेव अगर अपने विभावोंका कारण है तो आत्मा नित्य होनेके कारण हमेशा विभावोंको उत्पन्न करेगा और इस प्रकार उसे मुक्त होनेका कभी अवसर ही नहीं आयेगा।"

अतएव रागादि विभावोंका कारण द्रव्य कर्म है, जो परद्रव्य है। जिस अविवेकी आत्माको विवेकज्ञान नहीं है और इस कारण जो परद्रव्यमें और परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले भावोंमें अहं-ममत्व-बुद्धि रखता है, वह फिर नवीन कर्म बाँधता है। परन्तु जिस विवेकी पुरुपको विवेकज्ञान हो चुका है वह परद्रव्यको अपनेसे भिन्न मानता है और उसमें राग नहीं करता। अतएव उसके निमित्तसे होनेवाले दोषोंका भी अपनेको कर्त्ता नहीं मानता। ( स० २८६-७ ) जबतक आत्मा 'द्रव्य' और 'भाव'—दोनों प्रकारसे परद्रव्यका प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान नहीं करता और अपने शुद्ध स्वरूपमें स्थिर नहीं होता, तबतक वह नवीन कर्म बाँधता ही रहता है। ( स० २८३-५ )

## ६. मोक्ष

कोई पुरुप लम्बे समयसे कैदमें पड़ा हो और अपने बन्धनकी तीव्रता या मन्दताको तथा बन्धनके समयको भली भाँति जानता हो, परन्तु जबतक वह अपने बन्धनके वश होकर उसका छेद नहीं करता, तबतक लम्बा काल बीत जानेपर भी वह छूट नहीं सकता। इसी प्रकार कोई मनुष्य अपने कर्मबन्धनका प्रदेश, स्थिति, प्रकृति तथा अनुभाग ( रस ) जानता हो, तो भी इतने मात्रसे वह कर्मबन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता। हाँ, वही मनुष्य यदि रागादिको हटाकर शुद्ध हो जाय तो मुक्ति प्राप्त कर सकता है। बन्धका विचार करने मात्रसे बन्धसे छुटकारा नहीं मिलता। छुटकारा पानेके लिए बन्धका और आत्माका स्वभाव जानकर बन्धसे विरक्त होना चाहिए ( स० २८८-९३ )

**विवेक** – जीव और बन्धके पृथक्-पृथक् लक्षण भलीभाँति जानकर, प्रज्ञारूपी छुरी-द्वारा उन्हें अलग-अलग करना चाहिए। तभी बन्ध छूटता है। बन्धको छेदकर त्याग करना चाहिए और आत्माको ग्रहण करना चाहिए। आत्माको किस प्रकार ग्रहण किया जा सकता है? जैसे प्रज्ञा-द्वारा उसे अलग किया, उसी प्रकार प्रज्ञा-द्वारा उसे ग्रहण करना चाहिए। जैसे – 'जो चेतन स्वरूप है, वह मैं हूँ, जो द्रष्टा है वह मैं हूँ, जो ज्ञाता है वह मैं हूँ; शेष सब भाव मुझसे भिन्न हैं।' शुद्ध आत्माको जाननेवाला चतुर पुरुष समस्त भावोंको परकीय जान लेनेके पश्चात् उन्हें अपना कैसे मानेगा? ( स० २९४–३०० )

**अमृतकुम्भ** – जो मनुष्य चोरी आदि अपराध करता है, वह 'मुझे कोई पकड़ न ले' इस प्रकार शंकित होकर दुनियामें भटकता फिरता है। परन्तु जो अपराधी नहीं है वह निश्शंक हो जनपदमें फिरता है। इसी प्रकार अगर मैं अपराधी होऊँगा तो पकड़ा जाऊँगा, बाँधा जाऊँगा, ऐसी शंका होती है, लेकिन अगर मैं निरपराध हूँ तो निर्भय हूँ। फिर मुझे पकड़नेवाला कोई नहीं है। संसिद्धि, राध, सिद्धि, साधित, आराधित, यह सब एकार्थक शब्द हैं। राध अर्थात् शुद्ध आत्माकी सिद्धि-प्राप्ति। जिसमें यह नहीं है, वह आत्मा अपराध ( युक्त ) अर्थात् सापराध है। परन्तु जो निरपराध अथवा राधयुक्त है, वह निर्भय है। 'मैं शुद्ध आत्मा हूँ' इस प्रकारको निरन्तर प्रतीति होनेसे शुद्धात्मसिद्धि रूपी आराधना उसे सदैव रहती है। शुद्धात्मसिद्धिसे रहित जो शुद्धि या साधना है[1], वह विषकुम्भ

---

१. व्यवहारसूत्रके अनुसार, प्रतिक्रमण ( कृत दोषोंका निराकरण ), प्रतिसरण ( सम्यक्त्वादि गुणोंमें प्रेरण ), प्रतिहरण ( मिथ्यात्व तथा रागादि दोषोंका निवारण ), धारणा (चित्तका स्थिरीकरण), निवृत्ति ( विषय-कषायसे चित्त-का निवर्त्तन ) निन्दा ( आत्मसाक्षीसे दोष-प्रकाशन ), गर्हा ( गुरुकी साक्षीसे दोषोंका प्रकाशन ) और शुद्धि ( प्रायश्चित्त आदि-द्वारा विशुद्धी-

ही है। जबतक इन सबमें कर्तृत्वबुद्धि है, तबतक शुद्धात्माकी प्राप्ति होना असम्भव है। शुद्ध आत्मा इन सबसे रहित – पर है। उसीमें स्थित होना सच्ची आराधना है। कही जानेवाली शुद्धि या साधनासे शून्य शुद्धात्म-स्वरूपमें जो स्थिति है, वही अमृतकुम्भ है। (स० ३०१–७)

## १०. सर्वविशुद्धज्ञान

**आत्माके कर्तृत्वका प्रकार**–कोई भी द्रव्य, जिन विभिन्न गुणोंवाले परिणामोंके रूपमें परिणत होता है, उनसे भिन्न नहीं होता। जैसे सोना अपने कड़े आदि परिणामोंसे भिन्न नहीं है। इस प्रकार जीव और अजीव-के जो परिणमन सूत्रशास्त्रमें बतलाये गये हैं, उनसे यह द्रव्य अभिन्न है। आत्मा किसी अन्य द्रव्यसे उत्पन्न नहीं हुआ है; अतएव वह किसी अन्यका कार्य नहीं है। इसी प्रकार वह अन्य किसीको उत्पन्न नहीं करता, अतएव वह किसीका कारण भी नहीं है। इस कारण वस्तुतः जीवको जड़ कर्मका कर्ता कहना संगत नहीं है। फिर भी हम देखते हैं कि कर्मके कारण कर्ता (आत्मा) विविध भावोंके रूपमें उत्पन्न होता है और कर्ताके भावोंके कारण कर्म ज्ञानावरणीय आदि रूपमें उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त किसी दूसरे प्रकारसे उनकी सिद्धि नहीं हो सकती। इसका स्पष्टीकरण क्या है ?

---

करण) – यह सब अमृतकुम्भ है और इससे विपरीत दशा विषकुम्भ है। परन्तु यहाँ पारमार्थिक दृष्टिका अवलम्बन करके प्रतिक्रमण आदिको विष-कुम्भ कहा है। क्योंकि जबतक इन सबमें कर्तृत्वकी बुद्धि है, तबतक शुद्धात्म-स्वरूपकी अप्राप्ति ही है। और जहाँ शुद्ध आत्म-स्वरूप नहीं है, वह स्थिति अमृतकुम्भ कैसे कही जा सकती है? हाँ, इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रतिक्रमण आदिकी आवश्यकता नहीं है। उनकी आवश्यकता तो है ही, परन्तु उन्हींमें कृतार्थता नहीं है। इस बातपर अधिक भार देनेके लिए मूलमें इस प्रकारका कथन किया गया है।

यह सत्य है कि आत्मा प्रकृति ( कर्म और उनके फल ) के कारण[1] विविध विभावोंके रूपमें उत्पन्न होता है और नष्ट होता है; इसी प्रकार प्रकृति भी आत्माके उन विभावोंके कारण ( ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंके रूपमें ) उत्पन्न होती है और नष्ट होती है। जबतक आत्मा अज्ञानके कारण प्रकृति और उसके फलमें अहं-मम-बुद्धिका त्याग नहीं करता, तब-तक वह अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि और असंयमी रहता है। तबतक उसे नवीन कर्मोंका बन्ध भी होता रहता है और उसका संसार बढ़ता जाता है। परन्तु जब विवेक-बुद्धि प्राप्त करके वह अनन्त कर्मफलोंमें अहं-मम-बुद्धि तज देता है, तब वह विमुक्त, ज्ञायक, दर्शक और मुनि ( संयत ) हो जाता है। ( स० ३०९–१५ )

अज्ञानी प्रकृति-स्वभावमें स्थित होकर कर्मफल भोगता है, परन्तु ज्ञानी उदयमें आये हुए कर्मफलको जानता है, भोगता नहीं है। साँप गुड़ मिला दूध प्रतिदिन पी करके भी जहरीला ही बना रहता है, इसी प्रकार अज्ञानी पुरुष भलीभाँति शास्त्रोंका पठन करता हुआ भी प्रकृतिको ( कर्म और कर्मफलको – तद्विषयक ममत्वको ) नहीं त्यागता। परन्तु निर्वेद-युक्त बना हुआ ज्ञानी कर्मके भले-बुरे अनेकविध फलको जानता है, मगर उसमें अहं-मम-बुद्धि स्थापित न करनेके कारण उन्हें भोगता नहीं है। जैसे नेत्र अच्छे-बुरे पदार्थ देखता है मगर देखने मात्रसे वह उनका कर्ता-भोक्ता नहीं हो जाता, इसी प्रकार ज्ञानी भी बन्ध, मोक्ष, कर्मका उदय और क्षय ( निर्जरा ) जानता है, परन्तु उनमें अहं-मम-बुद्धि न होनेके कारण उनका कर्ता-भोक्ता नहीं है। ( स० ३१६-२० ) जिन्हें वस्तु-स्वरूप-का भान नहीं है, ऐसे अज्ञ जन भले ही पर-पदार्थको अपना कहकर व्यव-हार करें पर ज्ञानी तो जानता है कि उसमें परमाणु मात्र भी मेरा नहीं

---

१. मूलमें 'अर्थम्' है। अज्ञानसे उसे और उसके परिणामको आत्म-स्वरूप मानकर, – टीका।

है । मिथ्यादृष्टि मनुष्य ही पर द्रव्यको अपना मानकर ( राग-द्वेष-मोहरूप परिणत होता है और इस प्रकार कर्म-बन्धनका ) कर्ता होता है ।

अगर वास्तवमें ही आत्मा कर्म और कर्मफलोंका कर्ता हो तो आत्माकी कभी मुक्ति हो न हो । सामान्य जनसमुदायकी यह समझ है कि देव, मनुष्य आदि प्राणियोंका कर्ता विष्णु है । इसी प्रकार श्रमणोंके मतमें भी आत्मा कर्ता है तो फिर सामान्य लोगोंकी तरह श्रमणोंको भी कभी मोक्ष नहीं प्राप्त होगा । क्योंकि ( विष्णु एवं आत्मा ) नित्य होनेके कारण देव और मनुष्य रूप लोकका सर्जन करता ही रहेगा । ( स० ३२१-३ )

**आत्मा सर्वथा अकर्ता नहीं** – हाँ, पूर्वोक्त कथनसे यह मान लेना भी ठीक नहीं कि आत्मा सर्वथा अकर्ता है । आत्माको सर्वथा अकर्ता ठहरानेका इच्छुक वादी ( सांख्य ) यह मनवानेके लिए कि, आत्मामें अज्ञानसे भी मिथ्यात्व आदि विभाव उत्पन्न नहीं होते, यह तर्क उपस्थित करता है – अगर मिथ्यात्व नामक जड़ कर्म आत्मामें मिथ्यात्वरूपी विभाव उत्पन्न करता है तो अचेतन प्रकृतिको चेतन जीवके मिथ्यात्व भावकी कर्त्री भी मानना पड़ेगा । इस दोषको निवारण करनेके लिए कदाचित् यह कहा जाये कि, जीव स्वयं मिथ्यात्व भाव-युक्त नहीं होता, वरन् पुद्गल-द्रव्यमें मिथ्यात्व उत्पन्न होता है; तो फिर पुद्गल द्रव्य मिथ्यात्वयुक्त होगा, जीव नहीं । यह मान्यता तुम्हारे शास्त्रसे विरुद्ध है । यह दोष दूर करनेके लिए अगर यह कहो कि, जीव और प्रकृति दोनों मिलकर पुद्गल द्रव्यमें मिथ्यात्व उत्पन्न करते हैं तो दोनों मिथ्यात्वके कर्ता ठहरते हैं और दोनोंको ही उसका फल भोगना पड़ेगा । मगर जड़ द्रव्य फलका भोक्ता कैसे हो सकता है ? अतएव यही मानना योग्य है कि जीव या प्रकृति—कोई भी पुद्गल द्रव्यका मिथ्यात्व उत्पन्न नहीं करते; पुद्गल द्रव्य स्वभावसे ही, मिथ्यात्व आदि भावोंके रूपमें परिणत होता है । सचाई है भी यही । कर्म ही सब कुछ करता है । कर्म ही देता है और कर्म ही सब कुछ ले लेता है । जीव अकारक है ज्ञान, अज्ञान, शयन, जागरण, सुख, दुःख,

मिथ्यात्व, असंयम, चारों गतियोंमें भ्रमण तथा दूसरे सब शुभ-अशुभ भाव कर्मकी बदौलत ही हैं; जीव तो अकर्ता ही है। क्या आपकी ही आचार्य-परम्परागत श्रुति ऐसी नहीं है कि पुरुषवेद नामक कर्म स्त्रीकी अभिलाषा करता है और स्त्रीवेद नामक कर्म पुरुषकी अभिलाषा करता है? अतएव कोई भी जीव अब्रह्मचारी नहीं है; कर्म ही कर्मकी इच्छा करता है। इसी प्रकार परघात नामक कर्म दूसरेको मारता है इसलिए कोई जीव हिंसक नहीं है; क्योंकि कर्म ही कर्मको मारता है।''

कतिपय श्रमण इस प्रकार सांख्यसिद्धान्तके अनुसार प्ररूपणा करते हैं। उनके मतसे प्रकृति ही सब करती है; आत्मा सर्वदा अकर्ता है। ( स० ३३२-४० )

वही सांख्यवादी आगे चलकर कहता है – 'ऊपर कहे दोषोंको हटानेके लिए कदाचित् यह कहा जाये कि, 'आत्मा, आत्म-द्वारा ही आत्माको रागादिभावसे युक्त करता है; अतः अचेतन द्रव्यका चेतनद्रव्यमें परिणमन करनेका दोष नहीं आता।' किन्तु इस कथनमें भी अनेक दोष हैं। आपके मतमें आत्मा नित्य और असंख्य प्रदेशवाला कहा गया है। ऐसी वस्तु हीन या अधिक नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त आपके मतमें आत्मा ज्ञायक है और ज्ञान-स्वभावमें स्थित है। तो फिर अपने-आपसे ही अपनेमें परिणाम किस प्रकार उत्पन्न कर सकता है?'' (स० ३४१-४)

**सांख्यवादीका समाधान** – इन समस्त आक्षेपों और तर्कोंका उत्तर स्याद्वाद है। आत्माको एकान्ततः कर्ता या एकान्ततः अकर्ता मानते चलें तो प्रश्न कभी हल नहीं हो सकता। अतएव यही कहना ठीक है कि आत्मा ज्ञानस्वभावमें अवस्थित रहता है, फिर भी कर्म-जन्य मिथ्यात्व आदि भावोंके ज्ञानकालमें, अनादि कालसे ज्ञेय और ज्ञानका भेद न जाननेके कारण, परको आत्मा ( स्व ) समझनेवाला, तथा खास तौरसे अज्ञानस्वरूप परिणामोंका जनक आत्मा ही कर्ता है। आत्माका यह कर्तृत्व तबतक ही है जबतक वह ज्ञान और ज्ञेयके विवेकज्ञानकी पूर्णतासे आत्माको

ही आत्मा समझनेवाला नहीं बनता; अथवा खास तौरसे ज्ञानरूप परिणामों-में परिणत होकर, केवल ज्ञाता बनकर साक्षात् अकर्तापन नहीं प्राप्त कर लेता।[१]

**क्षणिकवादीको उत्तर** – इसी प्रकार स्याद्वादसे क्षणिकवादियोंके आक्षेप भी दूर हो जाते हैं। जीवके पर्याय पलटते रहते हैं, यह सत्य है; परन्तु कोई-न-कोई अंश ( द्रव्यांश ) तो कायम ही रहता है। अतएव इस समय जो फल भोगता है उसीने पहले कर्म किया था, ऐसा एकान्त कथन करना अथवा उसने नहीं ही किया था, ऐसा एकान्त कथन करना, ठीक नहीं। पर्यायोंकी दृष्टिसे देखिए तो भोगनेवाला जीव कर्म करनेवाला नहीं है, और अगर द्रव्यकी अपेक्षा देखा जाये तो कर्म करनेवाला ही इस समय फल भोगता है। अतएव जो करता है वही नहीं भोगता, वरन् दूसरा ही भोगता है – कर्मका कर्ता दूसरा और भोक्ता दूसरा ही है – ऐसा कहनेवाला मिथ्यादृष्टि और अजैन है। ( स० ३४५-८ )

**आत्मा परद्रव्यका ज्ञाता भी नहीं** – कलई घर वगैरहको सफेद करती है, परन्तु इसी कारण वह घर आदि परद्रव्यकी अथवा घर आदि परद्रव्यरूप नहीं बन जाती; उसका अपना पृथक् अस्तित्व कायम रहता है। इसी प्रकार आत्मा जिस अन्य द्रव्यको जानता है, उस अन्य द्रव्यका या अन्य द्रव्यमय नहीं बन जाता, उसका अपना अस्तित्व अलग ही रहता है। इसी प्रकार आत्मा जिन भिन्न द्रव्योंको देखता है, त्यागता है, श्रद्धान करता है, उसी द्रव्यरूप नहीं बन जाता – तद्रूप नहीं होता। वह अपना निराला

---

१. यह पैराग्राफ मूलमें नहीं है। टीकाकार श्रीअमृतचन्द्रने इस जगह इसका सन्निवेश किया है और ऐसा करनेसे ही पूर्वापर सम्बन्ध कायम रहता है। आगे भी मूलकी बात स्पष्ट करने और पूर्वापर सम्बन्ध जोड़नेके लिए टीकाकारोंके वाक्यों-में-से बहुत-सा भाग अनुवादमें शामिल किया गया है। जैसा कि उपोद्घातमें कहा गया है, ग्रन्थकारने परम्परासे चले आये श्लोकोंको संग्रह करके ग्रन्थोंमें शामिल कर लिया हो, ऐसा प्रतीत होता है।

अस्तित्व बनाये रखता है। फिर भी व्यवहारमें कहा जाता है कि कलई अपने स्वभावसे घर वगैरहको सफेद करती है, इसी प्रकार जीव अपने स्वभावसे परद्रव्यको जानता है, देखता है, तजता है, श्रद्धा करता है, ऐसा कहा जा सकता है। (स० ३५६-६५) परन्तु परमार्थ दृष्टिसे तो आत्माको परद्रव्यका ज्ञाता, द्रष्टा या त्यागकर्ता नहीं कह सकते। क्योंकि परद्रव्यमें और आत्मामें कोई सम्बन्ध ही नहीं है। चाँदनी पृथ्वीको उज्ज्वल करती है, किन्तु उसे पृथ्वीसे कोई लेन-देन नहीं; इसी प्रकार ज्ञानका ऐसा स्वभाव है कि उसमें अन्य द्रव्योंका प्रतिभास पड़ता है, मगर इतने मात्रसे आत्माको ज्ञायक नहीं कह सकते। वह अपने-आपमें ज्ञानमय ही है। परद्रव्यके साथ उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। (स० ३५६-६५)

**आत्मामें रागादि नहीं है**—ऊपरकी वस्तुपर आचारकी दृष्टिसे विचार कीजिए। मिथ्यादर्शन, ज्ञान और चारित्र अचेतन विषयोंमें नहीं हैं, जिससे कि विषयोंमें कुछ करना आवश्यक हो। वह अचेतन कर्ममें भी नहीं है कि उसमें कुछ करना आवश्यक हो। वह अचेतन शरीरमें भी नहीं है कि जिससे शरीरमें कुछ करना आवश्यक हो। जो गुण जीवके हैं, वह परद्रव्यमें कहाँसे होंगे? इसलिए ज्ञानी पुरुष विषय आदिमें रागादिकी खोज नहीं करता। आत्माके अज्ञानमय परिणामसे ही रागादि उत्पन्न होते हैं। अज्ञानका जब अभाव हो जाता है, तब सम्यग्दृष्टि जीवको विषयोंमें रागादि नहीं होते। इस प्रकार विचार करनेसे विदित होता है कि रागादि भाव न विषयोंमें हैं, न सम्यग्दृष्टिमें है। इसका अर्थ यह हुआ कि वे हैं ही नहीं। हाँ, जीवको अज्ञान दशामें उनका सद्भाव है। वह कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है, न स्वतन्त्र द्रव्यमें रहते ही हैं। वह जीवके अज्ञान भावसे उत्पन्न होते हैं। सम्यग्दृष्टि बनकर तात्त्विक दृष्टिसे देखो तो वह कुछ भी नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें किसी भी प्रकारका परिणाम पैदा नहीं कर सकता। सभी द्रव्य अपने-अपने स्वभावके अनुसार परिणत होते हैं। अतएव यह मानना भी गलत है कि परद्रव्य जीवमें

रागादि उत्पन्न करते हैं। रागादि आत्माके ही अशुद्ध परिणाम हैं। इसलिए परद्रव्यपर कोप करना वृथा है। उदाहरणार्थ—निन्दा या स्तुतिमें पुद्गल-द्रव्य वचनरूप परिणत होता है, मगर वह वचन सुनकर तू क्यों प्रसन्न या क्रुद्ध होता है? क्यों तुम मानते हो कि तुम्हें कुछ कहा गया है? पुद्गल-द्रव्य शुभ या अशुभ रूपमें परिणत हुआ तो हुआ, अगर वह तुमसे भिन्न है और उसके गुण भी तुमसे भिन्न हैं, तो फिर तुम्हारा क्या बिगड़ा कि तुम मूर्ख बनकर क्रोध करते हो? वह शुभ या अशुभ शब्द तुम्हें कहने नहीं आते कि तुम हमें सुनो, और तुम्हारा आत्मा कानमें पड़े शब्दोंको ग्रहण करने भी नहीं जाता। इसी प्रकार अच्छा या बुरा रूप भी तुम्हें प्रेरणा करने नहीं आता कि हमें देखो। यही बात शुभ-अशुभ गन्ध, रस, स्पर्श, गुण और द्रव्यके विषयमें भी है। अलबत्ता, वस्तुका यह स्वभाव ही है कि प्रत्येक इन्द्रियका विषय, उन-उन इन्द्रियोंका विषय तो होगा ही। इसे कोई रोक नहीं सकता। परन्तु मूढ़ मनुष्य उन विषयोंमें उपशान्त रहनेके बदले उन्हें ग्रहण करनेकी अभिलाषा करता है। उसमें कल्याणमयी विवेकबुद्धि ही नहीं है। जैसे दीपकका स्वभाव घट-पट आदिको प्रकाशित करना है उसी प्रकार ज्ञानका स्वभाव ज्ञेयको जानना है। मगर ज्ञेयको जानने मात्रसे ज्ञानमें विकार उत्पन्न होनेका कोई कारण नहीं। ज्ञेयको जानकर उसे भला-बुरा मानकर आत्मा रागी-द्वेषी होता है, बस यही अज्ञान है। यही कर्मबन्धनका मूल है। इसलिए पहले किये हुए शुभ-अशुभ अनेक प्रकारके कर्म-द्वारा उत्पन्न होनेवाले भावोंसे तू अपनी आत्माको बचा। अर्थात् उन्हें अपनेसे भिन्न मान; उनमें अहं–मम–बुद्धि मत कर और स्व-स्वभावमें स्थित हो। यही प्रतिक्रमण है। इसी प्रकार आगामी कर्मों या उनके कारणभूत भावोंसे अपने-आपको बचाना ही प्रत्याख्यान है। और वर्तमान दोषसे आत्माकी रक्षा करना ही आलोचना है। इस तरह तीन कालसम्बन्धी कर्मोंसे आत्माको भिन्न जानना, श्रद्धा करना और अनुभव करना ही सच्चा प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना है।

और यही वास्तविक चारित्र है। ( स० ३६६-८६ )

अज्ञान—शुद्ध ज्ञानसे भिन्न भावोंमें अहं-मम-बुद्धि होना ही अज्ञान है। अज्ञान दो प्रकारका है—कर्मचेतना और कर्मफल-चेतना। ज्ञानसे भिन्न भावोंमें 'मैं इसे करता हूँ' ऐसा अनुभव करना कर्मचेतना है और 'मैं इसे भोगता हूँ' ऐसा अनुभव करना कर्मफल-चेतना है। यह दोनों अज्ञान-चेतना हैं और संसारके बीज हैं। जो पुरुष पूर्वकालमें अज्ञानसे किये हुए कर्मोंके फलोंका स्वामी बनकर उन्हें नहीं भोगता तथा अपने वास्तविक स्वरूपमें ही तृप्त रहता है, वह सर्व-कर्म-संन्यासी एवं सर्व-कर्मफल संन्यासी अपना शुद्ध ज्ञान-स्वभाव प्राप्त करता है। वह ज्ञान शास्त्रगत ज्ञान नहीं है। ग्रन्थ तो अचेतन हैं, उनमें ज्ञान नहीं है अतः ज्ञान भिन्न है। इसी प्रकार शब्द, रूप, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श भी ज्ञान नहीं हैं, क्योंकि यह सब भी कुछ नहीं जानते। इसी प्रकार कर्म, धर्म, अधर्म, काल और आकाश भी ज्ञान नहीं हैं, अध्यवसान भी ज्ञान नहीं है, क्योंकि यह सब अचेतन हैं। आत्मा आप ही ज्ञान है। ज्ञान ज्ञायकसे अभिन्न है, ज्ञान और आत्मा एक है। यही आत्मा सम्यग्दृष्टि, संयम, ज्ञान, धर्म, अधर्म और संन्यास, सब कुछ है। विवेकशील पुरुष उसका ग्रहण करते हैं। ( स० ३९०-४०४ )

इस प्रकार जिसकी शुद्ध आत्मामें स्थिति है, वह कर्म-नोकर्मरूप पुद्गल द्रव्यका आहार ( ग्रहण ) कैसे कर सकता है? क्योंकि पुद्गल द्रव्य मूर्त है। आत्माके प्रायोगिक ( कर्मसंयोगजनित ) या वैस्रसिक ( स्वाभाविक ) किसी भी गुणसे परद्रव्यका ग्रहण या त्याग नहीं हो सकता। इसलिए विशुद्ध आत्मा जड़ चेतन द्रव्योंमें-से न किसीका ग्रहण करता है, न किसीका त्याग करता है। ( स० ४०५-७ )

सच्चा मोक्षमार्ग—जहाँ यह वस्तुस्थिति है वहाँ मूढ़ लोग साधु सम्प्रदायोंके या गृहस्थोंके भिन्न-भिन्न लिंग ( चिह्नवेष ) धारण करके यह समझ बैठते हैं कि-यही लिंग मोक्षका मार्ग है। यह कैसी मूढ़ता है!

कह सो घिप्पइ अप्पा पण्णाए सोउ घिप्पए अप्पा ।
जह पण्णाइ विहत्तो लह पण्णा एव वित्तव्वो ॥

प्रज्ञा-द्वारा ही आत्माका ज्ञान हो सकता है। जैसे प्रज्ञा-द्वारा आत्माको अन्य द्रव्योंमें-से जुदा किया है उसी प्रकार प्रज्ञा-द्वारा ही उसे ग्रहण करना चाहिए।

पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयओ ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥

प्रज्ञा-द्वारा यह अनुभव करना चाहिए कि जो द्रष्टा है वही मैं हूँ; शेष सब भाव मुझसे पर हैं। ( २९८ )

असुहं सुहं च रूवं ण तं भणइ पिच्छ मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं चक्खुविसयमागयं रूवं ॥
एयं तु जाणिऊण उवसमं णेव गच्छई मूढो ।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो ॥

अशुभ और शुभ रूप आकर तुझे नहीं कहता कि, तू मुझे देख, और नेत्रसे नजर पड़ते भी उसे रोका नहीं जा सकता। परन्तु तू अकल्याणमयी बुद्धिवाला बनकर उसे स्वीकार करने या त्याग करनेका विचार क्यों करता है ? शान्त – मध्यस्थ – क्यों नहीं बना रहता ? (३७६, ३८२)

पासंडीलिंगाणि व गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि ।
घित्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति ॥
ण वि एस मोक्खमग्गो पाखंडीगिहिमयाणि लिंगाणि ।
दंसण-णाण-चरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा बिंति ॥

विभिन्न सम्प्रदायोंके संन्यासियों या गृहस्थोंके चिह्न धारण करके मूढ़ जन मान लेते हैं कि बस, यही मुक्तिका मार्ग है। परन्तु बाह्य वेष मुक्तिका मार्ग नहीं है। जिनोंने स्पष्ट कहा है कि दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही मोक्ष-मार्ग है। ( ४०८, ४१० )

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेव ।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहर अण्णदव्वेसु ॥

अपने आत्माको मोक्षमार्गमें स्थापित करके उसीका ध्यान करो; नित्य उसीमें विहार करो; अन्य द्रव्योंमें विहार करना छोड़ दो । ( ४१२ )

## प्रवचनसार

विषयसुख—

जदि संति हि पुण्णाणि य परिणामसमुब्भवाणि ।
जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवदंताणं ॥

शुभ परिणामसे उत्पन्न होनेवाले पुण्य अगर हैं भी तो उनसे क्या हुआ ? वे पुण्य देव पर्यन्त सभी जीवोंको विषय सम्बन्धी तृष्णा ही उत्पन्न करते हैं । ( जहाँ तृष्णा है वहाँ सुख कहाँ ? ) ( १,७४ )

ते पुण उदिण्णतण्हा दुहिदा तण्हाहि विसयसोक्खाणि ।
इच्छंति अणुहवंति य आमरणं दुक्खसंतत्ता ॥

जिनकी तृष्णा जाग उठी है, ऐसे वह जीव तृष्णासे दुखी होकर फिर विषयसुखकी इच्छा करते हैं और तृष्णाके दुःखसे सन्तप्त होकर मृत्यु पर्यन्त सुखोंकी इच्छा करते और उन्हें भोगते रहते हैं । ( १,७५ )

सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तधा ॥

इन्द्रियोंसे प्राप्त होनेवाला सुख, दुःख रूप ही है, क्योंकि वह पराधीन है, बाधाओंसे परिपूर्ण है, नाशशील है, बन्धका कारण है और अतृप्तिकर है । ( १,७६ )

एगंतेण त्रि देहो सुहंण देहिस्स कुणइ सग्गे वा ।
विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा ॥

देह इस लोकमें या स्वर्गमें देही ( जीव ) को सुख नहीं देता; अपना प्रिय या अप्रिय विषय पाकर आत्मा स्वयं ही सुख-दुःखका अनुभव करता है। ( १,६६ )

**पप्या इट्ठे विसये फासेहिं समस्सिदे सहावेण।**
**परिणममाणो अप्पा सयमेव सुहं ण हवदि देहो॥**

इन्द्रियोंपर आश्रित प्रिय विषय पाकर स्वभावतः सुख-रूप परिणत होनेवाला आत्मा ही सुख-रूप बनता है; देह सुख-रूप नहीं है। (१,६५)

## हिंसा-अहिंसा

**मरदु व जिवदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।**
**पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदीसु॥**

जीव मरे या न मरे, फिर भी प्रमादपूर्वक आचरण करनेवालेको निश्चय ही हिंसाका पाप लगता है; परन्तु जो साधक अप्रमादी है; उसे यातनापूर्वक प्रवृत्ति करनेपर भी अगर जीव-वध हो जाय तो उसे उस हिंसाका पाप नहीं लगता। ( ३, १७ )

**अयदाचारो समणो छस्सु वि कायेसु बंधगो त्ति मदो।**
**चरदि जदं जदि च्चं कमलं णिव जले णिरुवलेवो॥**

जो श्रमण अयतना (असावधानी) के साथ प्रवृत्ति करता है, उसके द्वारा एक भी जीव न मरनेपर भी उसे छहों जीव-वर्गोंकी हिंसाका पाप लगता है। परन्तु वह अगर सावधानीके साथ प्रवृत्ति करता है तो उसके द्वारा जीवहिंसा हो जानेपर भी वह जलमें कमलकी भाँति निर्लेप रहता है। (३,१८)

## अपरिग्रह

**हवदि व ण हवदि बंधो मदे हि जीवेऽध कायचेट्ठम्मि।**
**बंधो धुवमुवधीदो इदि समणा छंडिया सव्वं॥**

शारीरिक प्रवृत्ति करनेपर जो जीवहिंसा हो जाती है उससे बन्ध होता भी है, और नहीं भी होता; परन्तु परिग्रहसे तो निश्चय ही बन्ध होता है। इसलिए श्रमण समस्त परिग्रहका त्याग करते हैं। (३, १९)

ण हि णिरवेक्खो चाओ ण हवदि भिक्खुस्स आसवविसुद्धी।
अविसुद्धस्स य चित्ते कह णु कम्मक्खओ विहिओ॥

जबतक निरपेक्ष त्याग न किया जाय तबतक चित्तशुद्धि नहीं हो सकती; और जबतक चित्तशुद्धि नहीं तबतक कर्मक्षय कैसे हो सकता है? (३, २०)

किध तम्मि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स।
तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि॥

जो परिग्रहवान् है उसमें आसक्ति, आरम्भ या असंयम क्यों नहीं होगा? तथा जहाँतक परद्रव्यमें आसक्ति है, वहाँतक आत्म-प्रसाधना किस प्रकार हो सकती है? (३, २१)

## सच्चा श्रमण

पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदियसंवुडो जिदकसाओ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो॥

जो पाँच प्रकारकी समिति (सावधान प्रवृत्ति)से युक्त है, जिसका मन, वचन और कार्य सुरक्षित है, जिसकी इन्द्रियाँ नियंत्रित हैं, जिसने कषायोंको जीत लिया है, जिसमें श्रद्धा और ज्ञान परिपूर्ण हैं और जो संयमी है, वह श्रमण कहलाता है।

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो॥

सच्चा श्रमण शत्रु-मित्रमें, सुख-दुःखमें, निंदा-प्रशंसामें मिट्टीके ढेले और कंचनमें तथा जीवन और मरणमें समबुद्धिवाला होता है। (३, ४१)

दंसणणाणचरित्तसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु ।
एयग्गगदोत्ति मदो सामण्णं तस्स परिपुण्णं ॥

श्रद्धा, ज्ञान और चारित्रमें जो एक साथ प्रयत्नशील है और जो एकाग्र है, उसका श्रमणत्व परिपूर्ण कहलाता है । (३, ४२)

अत्थेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि ।
समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविधाणि ॥

पदार्थोंमें जिसे राग, द्वेष या मोह नहीं है, वह श्रमण, निश्चय ही विविध कर्मोंका क्षय करता है । (३, ४४)

इहलोगनिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्मि ।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो ॥

इस लोक या परलोकके विषयमें जिसे कुछ भी आकांक्षा नहीं है, जिसका आहार-विहार प्रमाणपूर्वक है और जो क्रोधादि विकारोंसे रहित है, वह सच्चा श्रमण है ।

जस्स अणेसणमप्पा तंपि तओ तप्पडिच्छगा समणा ।
अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा ॥

आत्मामें परद्रव्यकी किंचित् भी अभिलाषा न होना ही वास्तविक तप (उपवास) है । सच्चा श्रमण इसी तपकी आकांक्षा करता है । भिक्षाद्वारा प्राप्त निर्दोष आहार करते हुए भी श्रमण अनाहारी ही हैं । (३,२७)

केवलदेहो समणो देहेण ममेत्ति रहिदपरिकम्मो ।
आउत्तो तं तवसा अणिगूहं अप्पणो सत्तिं ॥

सच्चे श्रमणको शरीरके सिवा और कोई परिग्रह नहीं होता । शरीरमें भी ममता न होनेके कारण अयोग्य आहार आदिसे वह उसका पालन नहीं करता और शक्तिको जरा भी छिपाये बिना उसे तपमें लगाता है । (३, २८)

बालो वा बुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा।
चरियं चरउ सजोग्गं मूलच्छेदं जधा ण हवदि॥

बालक हो, वृद्ध हो, थका हो या रोगग्रस्त हो, तो भी श्रमण अपनी शक्तिके अनुरूप ऐसा आचरण करे जिससे मूल-संयमका छेद न हो। ( ३, ३० )

आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं।
जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो॥

आहार और विहारके विषयमें श्रमण अगर देश, काल, श्रम, शक्ति और ( बाल, वृद्ध आदि ) अवस्थाका विचार करके आचरण करे तो उसे कमसे कम बन्धन होता है। ( ३, ३१ )

**शास्त्रज्ञान—**

एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु।
णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा॥

मुमुक्षु ( श्रमण ) का सच्चा लक्षण एकाग्रता है। जिसे पदार्थोंके स्वरूपका यथार्थ निश्चय हुआ हो, वही एकाग्रता प्राप्त कर सकता है। पदार्थोंके स्वरूपका निश्चय शास्त्र-द्वारा होता है, अतः शास्त्र-ज्ञान प्राप्त करनेका प्रयत्न, सब प्रयत्नोंमें उत्तम है। ( ३, ३२ )

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अत्थे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू॥

शास्त्रज्ञानसे हीन श्रमण न अपना स्वरूप जानता है, न परका ही। और जिसे पदार्थोंके स्वरूपका ज्ञान नहीं है, वह कर्मोंका क्षय किस प्रकार कर सकता है? ( ३, ३३ )

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू॥

प्राणी मात्रको इन्द्रियाँ चक्षु हैं, देवोंको अवधिज्ञान[1] रूपी चक्षु है, केवलज्ञानी मुक्तात्माओंको सर्वतः चक्षु है और श्रमणोंके लिए आगम चक्षु है। ( ३, ३४ )

> सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं।
> जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता तेवि ते समणा॥

समस्त पदार्थोंका विविध गुणपर्याय सहित ज्ञान शास्त्रमें है। मुमुक्षु शास्त्ररूपी चक्षुसे उन्हें देख सकता है और जान सकता है। ( ३, ३६ )

> आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स।
> णत्थित्ति भणइ सुत्तं असंजदो हवदि किध समणो॥

जिसकी श्रद्धा शास्त्रपूर्वक नहीं है, उसके लिए संयमाचरण सम्भव नहीं है। और जो संयमी नहीं वह मुमुक्षु ही कैसा ! ( ३, ३६ )

> ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि ण अत्थि अत्थेसु।
> सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि॥

श्रद्धाके अभावमें कोरे आगम ज्ञानसे मुक्तिलाभ होना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार आचरणहीन श्रद्धा-मात्रसे भी सिद्धि नहीं मिलती। ( ३, ३७ )

> परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो।
> विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि॥

जिसे देहादिमें अणुमात्र भी आसक्ति है, वह मनुष्य भले ही समस्त शास्त्रोंका ज्ञाता हो, मगर मुक्त नहीं हो सकता। ( ३, ३९ )

■

---

१. जिस ज्ञानसे एक नियत मर्यादा तक मूर्त पदार्थोंको बिना इन्द्रिय और मनके जाना जा सके।

## शब्दसूची